विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ जून—१९९५ अंक—९

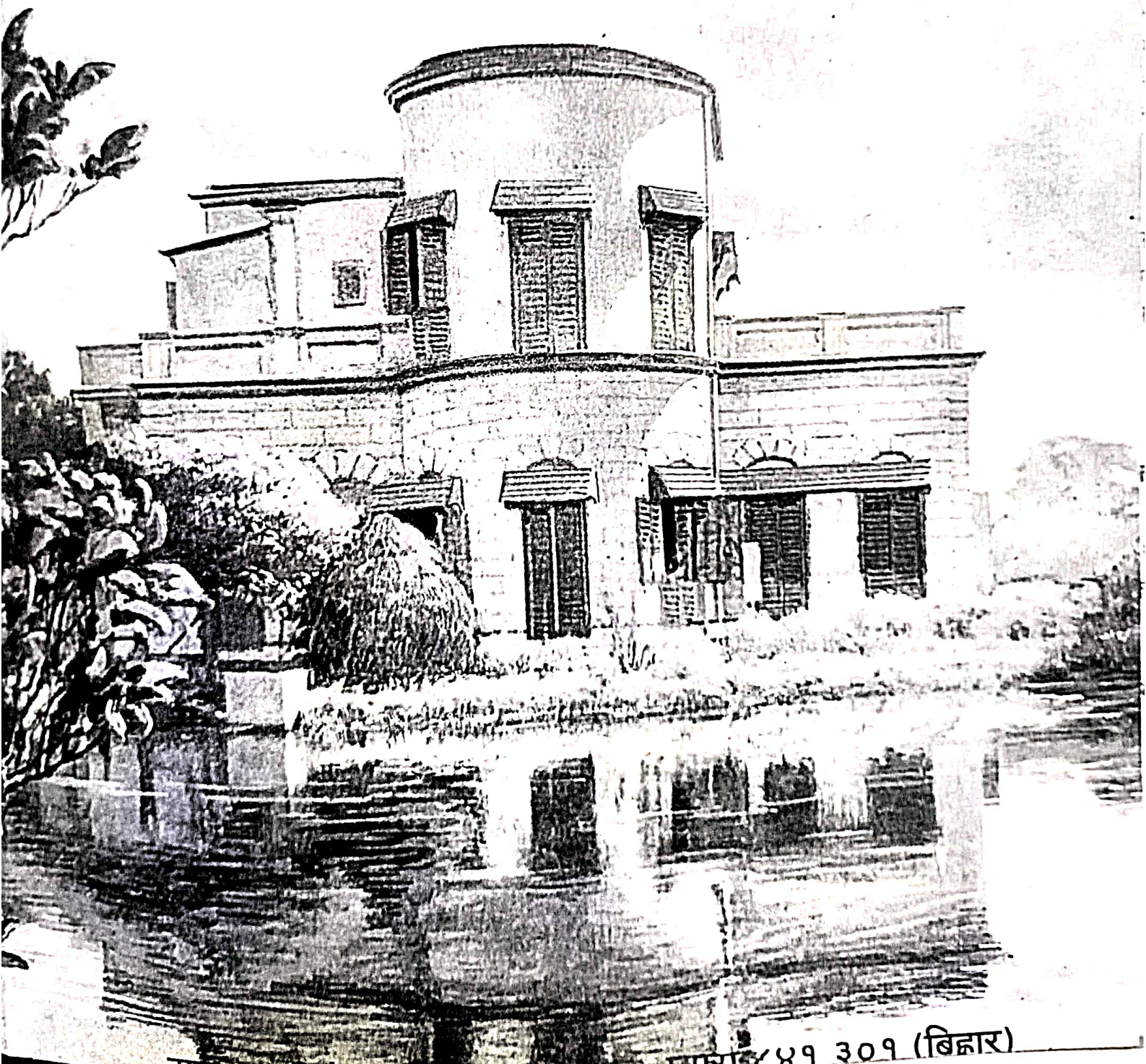

...४१ ३०१ (बिहार)

विवेक शिक्षा के आजीवन सदस्य

११६. श्रीरामचन्द्र गुप्त, लुमडिंग (आसाम)
११७. श्री चन्द्रकान्त स० नागपुरे (नागपुर)
११८. श्री अच्छे लाल श्रीवास्तव (उ० प्र०)
११९. संत जगदम्बिका (प्रयाग)
१२०. श्री अजय बलदवा, जयपुर (आसाम)
१२१. श्री बी० एस० दुबे, पुणे (महाराष्ट्र)
१२२. श्री पालीराम शर्मा, लुमडिंग (आसाम)
१२३. श्रीमती चन्द्रिका कालरा (बम्बई)
१२४ श्रीरामकृष्ण आश्रम, श्रीनगर (कश्मीर)
१२५. श्रीमती छवि सिंह, गाजीपुर (उ० प्र०)
१२६. विवेकानन्द युवा महामंडल, इन्दौर (म० प्र०)
१२७. श्री आनन्द यश चोपड़ा, अलॉग(अरुणाचल प्रदेश)
१२८. सुश्री सेजल क० मान्डवीय, जूनागढ़ (गुजरात)
१३०. श्री विजय कुमार रामसेवक गुप्ता, नागपुर
१३१. श्री जी. के. दीक्षित, वरोदा (गुजरात)
१३२. श्री सत्य प्रकाश लाल, वाराणसी (उ. प्र.)
१३३. श्री पूनम चन्द्र जैन—लुमडिंग (आसाम)
१३४. श्री राम आसरा वासुदेव - लुमडिंग (आसाम)
१३५. नार्थ कछार टिम्बर प्रोडक्ट्स—मंडेरदिशा (आ०)
१३६. श्री ओम प्रकाश अग्रवाल—लंका (आसाम)
१३७. श्री महेश गुरुवारा लुमडिंग (आसाम)
१३८. श्री भोलानाथ उपाध्याय - लुमडिंग (आसाम)
१३९. श्री अमुभाई पटेल—बड़ोदा (गुजरात)
१४०. श्री रामभगत खेमका—मद्रास
१४१. श्री रूपाराम जोधपुर (राजस्थान)
१४२. महावीर बाल वाचनालय—चन्दावल नगर(राज०)
१४३. श्री कृष्ण मलहोत्रा—नई दिल्ली
१४४. श्री गुलशन चावला—दिल्ली
१४५. श्री आर० के० ग्रोवर—नई दिल्ली
१४६. श्री राकेश रेलहन—नई दिल्ली
१४७. श्री जयप्रकाश सिंह कलकत्ता
१४८. श्री गंगाधर मिश्र -एन० सी० हिल्स
१४९. श्री बी० बी० शेरपा लुमडिंग (आसाम)
१५०. श्री शंकर लाल अगरवाल नगाँव (आसाम)
१५१. श्री रामगोपाल खेमका- कलकत्ता
१५२. श्रीमती शान्ति देवी - इन्दौर (म० प्र०)
१५३. श्री जगदीश बिहारी—जयपुर (राजस्थान)
१५४. डॉ० गोविन्द शर्मा -काठमांडू (नेपाल)
१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. सुश्री एस. पी. त्रिवेदी - राजकोट (गुजरात)
१५७. श्रीमती गिरिजा देवी—बखरिया (बिहार)
१५८ श्री अशोक कौशिक - मालवीय नगर, नयी दिल्ली
१५९. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)

इस अंक में

	पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है	१
२. श्रीसारदा देवी स्तोत्रम् — स्वामी अभेदानन्द	२
३. भागो नहीं, बदलो — (सम्पादकीय सम्बोधन)	३
४. साम्प्रदायिक एकता के प्रतीक सन्त कबीर — स्वामी शशांकानन्द	१०
५. स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी महाराज के संस्मरण — चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय	१३
६. युवकों के प्रश्न : स्वामी ब्रह्मेशानन्द के उत्तर	१८
७. देवलोक — स्वामी अपूर्वानन्द	२५
८. सिस्टर निवेदिता — सुश्री जसवीर कौर आहुजा	२९
९. चोरी कर ले और मुक्त हो जा — (प्रेरक कथा)	३२

ग्राहकों से एक आन्तरिक अपील

प्रिय ग्राहक बन्धु,

'विवेक शिखा' चौदह वर्षों से आर्थिक कठिनाइयों की आँधी के थपेड़ों को झेलती हुई भी आपके अपरिमित स्नेह-सहयोग से आपकी सेवा करती रही है। यह आपके हृदय के द्वार पर श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के जीवनदायी विचारों के दस्तक देती रही है। आप इसकी जीवन उत्कर्षक अग्निधर्मी वाणी से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करते रहे हैं। हम आपके आभारी हैं।

किन्तु, बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि पिछले कुछ महीनों से कागज की कीमत में निरन्तर हो रही धुआँधार वृद्धि, मुद्रण एवं प्रकाशन की दर में हुई भीषण बढ़ोत्तरी एवं ग्राहकों की संख्या में अपेक्षित वृद्धि के अभाव ने आज 'विवेक शिखा' के प्रकाशन पर एक भीषण प्रश्नचिह्न लगा दिया है। हमारे कदम लड़खड़ा रहे हैं। हमारी आर्थिक स्थिति चिन्तनीय हो गयी है। यदि ग्राहकों की संख्या में वृद्धि न हुई तो विवेक शिखा का प्रकाशन बन्द करना पड़ सकता है।

अतः मैं आपसे आन्तरिक अपील करता हूँ कि 'विवेक शिखा' का हर ग्राहक/ग्राहिका कम से कम पाँच ग्राहक बनाने की शीघ्र कृपा करें ताकि हम संकट से उबर सकें।

आप अपने प्रियजनों को उपहार के रूप में देकर या अपने परिचितों या मित्रों को इसका ग्राहक बनाकर 'विवेक शिखा' की सहायता कर सकते हैं। आपका सहयोग ही हमारा सम्बल है।

हमें आशा और विश्वास है कि हमारी अपील पर करुणापूर्वक विचार कर कम से कम पाँच और जहाँ तक अधिक हो सके ग्राहक बनाकर अपने पावन त्रिदेव के भाव-प्रचार में सहायक बनने की कृपा करें।

भवदीय

डॉ० केदारनाथ लाभ

सम्पादक

विवेक शिखा

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ जून—१९९५ अंक—३

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप शिखा। निजानन्द में रमनी अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक।
डॉ० केदारनाथ लाभ
सहायक सम्पादक
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन। ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि
आजीवन सदस्य— ५०० रु०
वार्षिक— ४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से— ५० रु०
एक प्रति— ४ रु०

रचनाएं एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

तुम समाज-सुधार करना चाहते हो? ठीक है, यह तुम भगवत्प्राप्ति करने के बाद भी कर सकोगे। स्मरण रखो कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए प्राचीनकाल के ऋषियों ने संसार को त्याग दिया था। भगवत्प्राप्ति ही सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है। यदि तुम चाहो तो तुम्हें अन्य सभी वस्तुएँ मिल जाएँगी। पहले भगवत्प्राप्ति कर लो, फिर भाषण, समाज-सुधार आदि की सोचना।

(२)

मनुष्य की देह मानो एक हाँड़ी है और मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ मानो पानी, चावल और आलू। हाँड़ी में पानी, चावल और आलू छोड़कर उसे आग पर रख देने से वे तप्त हो जाते हैं और अगर कोई उन्हें हाथ लगाये तो उसका हाथ जल जाता है। वास्तव में जलाने की शक्ति हाँड़ी, पानी चावल या आलू में से किसी में नहीं है, वह तो उस आग में है; फिर भी उनसे हाथ जलता है। इसी प्रकार मनुष्य के भीतर विद्यमान रहनेवाली ब्रह्मशक्ति के कारण ही मन बुद्धि, इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, और जैसे ही इस ब्रह्मशक्ति का अभाव हो जाता है वैसे ही ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं।

(३)

बद्ध जीव मगर की तरह होते हैं। मगर की देह पर शस्त्र द्वारा वार करने पर शस्त्र छिटक कर गिर पड़ता है, मगर को कुछ नहीं होता; सिर्फ पेट पर वार करने पर ही वह मरता है। इसी तरह, बद्ध जीव को कितना भी धर्मोपदेश दो, कितनी भी ज्ञान, वैराग की बातें सुनाओ; उसके हृदय पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसके लिए तो उसकी आसक्ति के विषयों पर ही प्रहार करना पड़ेगा।

श्री सारदादेवी स्त्रोतम्

—स्वामी अभेदानन्द

प्रकृतिं परमामभयां वरदां नररूप धरां जनतापहराम् ।
शरणागत—सेवक—तोषकरीं प्रणमामि परां जननीं जगताम् ।१।
गुणहीन-सुतानपराधयुतान् कृपयाऽद्य समुद्धर मोहगतान् ।
तरणीं भवसागरपारकरीम् प्रणमामि परां जननीं जगताम् ।२।
विषयं कुसुमं परिहृत्य सदा चरणाम्बुरुहामृत शान्तिसुधाम् ।
पिव भृङ्ग मनो भवरोग हरां प्रणमामि परां जननीं जगताम् ।३।
कृपां कुरू महादेवि, सुतेषु प्रणतेषु च, चरणाश्रयदानेन कृपामयि नमोस्तु ते ।४।
लज्जा पटावृते नित्यं सारदे ज्ञानदायिके, पापेभ्यो नः सदा रक्ष कृपामयि नमोऽस्तु ते ।५।
रामकृष्णगत प्राणां तन्नाम श्रवणप्रियाम, तद्भावरंजिताकारां प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।६।
देवीं प्रसन्नां प्रणतार्तिहन्त्रीं योगीन्द्रपूज्यां युगधर्मपात्रीम् ।७।
तां सारदां भक्ति विज्ञान दात्रीं दयास्वरूपां प्रणमामि नित्यम् ।८।
स्नेहेन बध्नासि मनोऽस्मदीयं दोषानशेषान् सगुणीकरोषि ।
अहेतुना नो दयसे सदोषान् स्वाङ्के गृहीत्वा यदिदं विचित्रम् ।९।
प्रसीद मातर्विनयेन याचे नित्यं भव स्नेहवती सुतेषु ।
प्रेमैक विन्दुं चिर दग्ध चित्ते विषिञ्च चित्तं कुरु नः सुशान्तम् ।१०।
जननीं सारदां देवीं रामकृष्णं जगदगुरुं पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।११।

भावार्थ :—श्रीसारदा देवी परम प्रकृति तथा अभय और आनन्ददायिनी हैं। वे वर देने वाली तथा मनुष्य का रूप धारण कर जीवों के त्रयतापों का नाश करनेवाली हैं। वे आश्रित सेवकों को संतोष प्रदान करती हैं। ऐसी जगज्जननी सारदा देवी को मैं प्रणाम करता हूँ ।।१

इस अपराधी गुणहीन पुत्र का माया-मोह से कृपापूर्वक उद्धार कीजिए। मेरी नाव को भवसागर से पार कीजिए। मैं जगज्जननी सारदा माँ को प्रणाम करता हूँ ।।२

विषयरूपी कुसुम का परित्याग कर सदा माता के चरणकमल की शान्ति-सुधा का हे मनभृंग, तुम पान करो। इससे संसार-रोग दूर होगा। ऐसी जगज्जननी माँ सारदा को मैं प्रणाम करता हूँ ।।३

हे महादेवी, प्रणत सन्तान को अपना चरणाश्रय देकर कृपा कीजिए। आपको मेरा प्रणाम है ।।४

हे सारदे, आप ज्ञान दायिनी तथा सदा लज्जा रूपी वस्त्र मे आवृत हैं। हे कृपामयी पापों से हमारी रक्षा कीजिए। आपको नमस्कार करता हूँ ।।५

हे मातः ! आपका हृदय रामकृष्णमय है। उनका नाम-श्रवण आपको प्रिय लगता है तथा उनके भाव में ही आप रंगी हुई हैं। आपको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ।।६

जिनका चरित्र तथा जीवन पवित्र है, जो पवित्रता की स्वरूपिणी हैं, ऐसी जगज्जननी सारदा देवी को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ।।७

जो देवी सदा प्रसन्न हैं और प्रणत व्यक्ति का दुःख नाश करनेवाली हैं, जो योगिन्द्रों के द्वारा पूजित हैं तथा युगधर्म की सुरक्षा करनेवाली हैं, ऐसी भक्ति-विज्ञान दात्री दयास्वरूपिणी माँ सारदा को मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ ।।८

आपने स्नेह में हमलोगों के चित्त को बांध लिया है, हमारे सारे दोषों को आप गुण में बदल देती हैं, सारे दोषी व्यक्तियों को अपनी गोदी में धारण कर लिया है, आपकी इस अहैतुकी कृपा को कौन समझ सकता है ।।९

हे जननि, हम सविनय प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जायँ और पुत्रों के प्रति सदा स्नेह प्रदर्शन करें। हमारे चिर दग्ध चित्त में एक बिंदु प्रेम का सिंचन कीजिए और हमारे चित्त को शान्त कीजिए ।।१०

जननी सारदादेवी तथा जगद्गुरु श्रीरामकृष्ण के चरण-कमलों को मैं हृदयमें धारणकर बार-बार प्रणाम करता हूँ ११

भागो नहीं, बदलो

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

एक कॉलेज में छात्र संघ का चुनाव हो रहा था। उस कॉलेज के एक प्रोफेसर की लड़की ने जो उसी कॉलेज की छात्रा थी, किसी एक उम्मीदवार छात्र के पक्ष में अपना वोट दिया। वह छात्र एक वोट से ही विजयी हुआ। पराजित छात्र ने उसी शाम को उस छात्रा के प्रोफेसर पिता पर छूरों से आक्रमण कर दिया। उसका तर्क यह था कि वह जिस एक वोट से हारा वह उसी प्रोफेसर की लड़की का वोट था। अपना क्रोध उसने उस प्रोफेसर पर छूरों का आक्रमण कर शान्त किया।

एक प्रोफेसर के क्लास में कई बाहरी युवक आ घुसे थे। प्रोफेसर के कहने पर भी जब वे युवक वर्ग से नहीं निकले तब प्रोफेसर ने ही वर्ग छोड़ दिया। और फिर क्रुद्ध छात्रों में से कुछ ने आकर उस प्रोफेसर पर डंडे चला दिये।

एक बैंक में किसी दुकान का कर्मचारी कुछ रुपये जमा करने गया था। बैंक के फाटक पर ही एक युवक ने उस पर गोली चला दी, और वह व्यक्ति अस्पताल में मर गया।

एक थाने में कुछ सिपाहियों ने किसी आदिवासी युवती के साथ सामूहिक बलात्कार किया।

एक प्रोफेसर विश्वविद्यालय परीक्षा के केन्द्रीय मूल्यांकन कक्ष में अपने प्रिय छात्रों का अंक बढ़ाने की प्रक्रिया में पकड़ा गया।

किसी अदना-सी बात पर दो सम्प्रदायों या जातियों में भयंकर मार-काट हुई।

दूर्गा पूजा के लिए सड़क रोक कर आती-जाती गाड़ियों के मालिकों से चन्दा वसूलने के क्रम में एक पुलिस की गाड़ी पर सवार एक सिपाही को, एक गाँव के कुछ युवकों ने, चन्दा नहीं देने के कारण, कुदाल चलाकर हत्या कर दी।

किसी ट्रेन या बस के मुसाफिरों को कुछ आतंकवादियों ने बन्दूक या रिवाल्वर का भय दिखाकर लूट लिया।

दहेज नहीं मिलने के कारण किसी युवक ने अपनी गर्भवती पत्नी को जलाकर मार दिया।

ऐसी घटनाएँ रोज ही देखने-सुनने को मिलती हैं। किसी भी दिन का अखबार उलटने पर ऐसी खबरें भरी-पड़ी मिल जाती हैं। और शर्म से हमारा माथा झुक जाता है। यह मानने में लाज लगने लगती है कि ऐसा कृत्य करनेवाले हमारे ही देश के—उस देश के जिसकी एक लम्बी धार्मिक-आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परम्परा रही है—नागरिक हैं।

आखिर क्या हो गया है हमको? क्यों हम इतने उद्‌भ्रांत, दिशाहीन, पथभ्रष्ट और विक्षिप्त हो गये हैं? क्यों हम इतने तनाव, उत्तेजना और आक्रोश में जीने को अभिशप्त हो गये हैं? राम की

सहिष्णुता, कृष्ण का प्रेम, बुद्ध की करुणा, कबीर-नानक की शीलवंतता, रामकृष्ण की अनासक्ति, विवेकानन्द का कठोर त्याग और गांधी की अहिंसा हमारी नसों में वहती हुई रक्त-धारा के ताप से वाष्प बनकर क्यों उड़ गयी हैं ? क्या हम उनकी संतान कहलाने के योग्य भी रह गये हैं ? और अगर नहीं, तो क्यों ?

मुझे लगता है कि हमारी सारी विकृतियों, सारी अभद्रताओं, सारी दुरोतियों और सारी बीमारियों के मूल में जो सबसे वड़ा कारण है, वह यह कि आज के माहौल में हम सब भाग रहे हैं, बड़ी तेजी से भाग रहे हैं, स्वयं अपने से, अपने 'स्व' से, अपने यथार्थ स्वरूप से, अपने परम चिन्मय आनन्दघनात्मक मूल रूप से। और यह भागने की प्रक्रिया जब तक चलती रहेगी, अपने स्वरूप से मुंह फेरने की स्थिति जबतक बनी रहेगी, हम वह सब करते रहेंगे, बल्कि और तेजी से करते रहेंगे जो आज हम कर रहे हैं।

'स्व' के सुधा-सरोवर से भागकर हम अहं के अग्निकुण्ड में गिरते हैं।

'आत्म' के आलोक से भागकर हम घृणा, क्रोध और हिंसा के अंधकार में प्रवेश करते हैं।

अपने मूल स्वरूप से भागकर हम दुष्कर्मों के पंक में आकंठ धँस जाते हैं।

अपने सत्य से मुँह फेरकर हम अनेकानेक कुकृत्यों के—एक भयंकर असत्य के नाम के—आलिंगन में आवद्ध हो जाते हैं।

इतिहास साक्षी है कि जिस किसी ने अपने मूल स्वरूप से भागने का प्रयास किया उसी ने अपने लिए आत्मघाती कृतियों का पहाड़ सिरज लिया।

रावण ने अपने मूल स्वरूप का परित्याग कर दिया था। वह अपने यथार्थ से भाग खड़ा हुआ था और परिणाम यह हुआ कि वह ऋषियों-मुनियों के यज्ञों का ध्वंस करने लगा। उनके रक्त का शोषण करने लगा। पर-नारी का अपहरण करने लगा, और अन्त में वह राम के वाण का शिकार हुआ।

पंचवटी में सीता के सामने लक्ष्मण ने एक रेखा खींच दी थी। उस रेखा का अतिक्रमण नहीं करने का अनुनय लक्ष्मण ने सीता से किया था। यह लक्ष्मण रेखा 'स्व' की, आत्म-मर्यादा की, आत्मस्वरूप की ही मानो एक सीमा रेखा थी। उसका अतिक्रमण करने से, उस रेखा को लाँघने से, उस सीमा से भागने से संकट का होना स्वाभाविक था। सीता लक्ष्मण-रेखा को लाँघ गयी और स्वभावतः रावण के द्वारा उसका हरण हो गया।

कुरुक्षेत्र के धर्म-युद्ध में अर्जुन अपने स्वरूप से भागने लगा था। उसने युद्ध न करने के अनेक पांडित्यपूर्ण तर्क दिये थे। लेकिन कृष्ण थे जो उसे बार-बार समझा रहे थे—'अर्जुन, अपने स्वधर्म को पहचानो, स्वधर्म चाहे कैसा भी क्यों न हो, उससे भागो मत। परधर्म का अवलम्बन न करो।' लेकिन अर्जुन कृष्ण के सत्परामर्श को जल्दी मानने को तैयार नहीं था। अपने स्वरूप से भागनेवाला हर प्राणी विवेक की वाणी को सहज ही स्वीकार नहीं करता। अर्जुन भी नहीं कर रहा था। लेकिन जब कृष्ण ने उसे अपने रूप की पहचान करायी तो वह संभल गया। वह भाग रहा था। लेकिन उसने भागना छोड़कर अपने को बदल लिया। वह बोल उठा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। (१८।७३)

'हे कृष्ण, आपकी कृपा से मेरा मोह समाप्त हो गया है अब मुझे (अपने मूल स्वरूप की) स्मृति (पहचान) हो गयी है। इसलिए मैं संदेह-रहित हो गया हूँ, निःसंशय हो गया हूँ और अब वही करूँगा जो आपने कहा है।' यह बदले हुए अर्जुन की वाणी है। गीता के प्रथम अध्याय का अर्जुन अपने से भागता हुआ अर्जुन है और गीता के अट्ठारहवें अध्याय का अर्जुन ठहरा हुआ (स्थितोऽस्मि) यानी बदला हुआ अर्जुन है। अर्जुन अब ठहरा हुआ इसलिए है कि उसे अपने आत्मस्वरूप की पहचान हो गयी है। वह जान गया है कि उसका मूल रूप अविनाशी है, अनश्वर है अतः आनन्दमय है, शोक-रहित है। इसलिए वह अब कोई भी कर्म केवल कर्म की दृष्टि से करनेवाला एक निमित मात्र है। जो निमित है, उस पर कर्म का फल नहीं आता। कलम से जो कुछ लिखा जायगा। उसका फल कलम पर नहीं आयेगा लेखक पर आयेगा। कलम तो निमित है।। लेखक उससे गीता का श्लोक लिखा ले या अपशब्दों को सूची तैयार करा ले। कलम को क्या! अर्जुन इस रहस्य को समझ गया है। इसलिए वह बदल गया है।

जब हम बदल जाते हैं, यानी स्थित हो जाते हैं यानी अपने स्वरूप में होते हैं, 'स्व' में स्थित हो जाते हैं तब हम कोई दुष्कर्म नहीं कर सकते। हमारी हर साँस तब भद्रता को संगीत हो जाती है, हमारी हर क्रिया तब कल्याण की मंदाकिनी बन जाती है, हमारा हर डेग लोकमंगल की दिशा में उठकर एक कस्तूरी गंध बिखेर देता है। "न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।" जो अपनी आत्मा में रमण करते हैं वे विषयों की (दुष्कृतियों को) मृगतृष्णा में भ्रमण नहीं करते। और जो लोक-मंगल के लिए ही आचरण करते हैं, वे स्वयं कभी दुर्गति में नहीं पड़ते। 'न हि कल्याणं कृत कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।" कल्याण कर्मियों की कभी दुर्गति नहीं होती।

गौतम जब एक बूढ़े, एक रोगी और एक मृतक को देखकर अधीर हो गये थे, विचलित हो गये थे, तब मानो वे सत्य से भाग रहे थे। लेकिन जब इससे मुक्ति पाने के लिए वे अपनी परमरूपवती पत्नी, सुकुमार पुत्र और विशाल राजपाट का परित्याग कर चल पड़े तब मानो उन्होंने अपने में बदलाव की प्रक्रिया शुरू कर दी। और जब वे बुद्ध हो गये तब वे बदल गये। बुद्ध ठहरी हुई बुद्धि का नाम है। वे 'स्थितोऽस्मि' की अवस्था में आ गये थे। उन्हें 'स्व' की पहचान हो गयी थी। इसलिए जब दस्युराज अंगुलिमाल ने घने जंगल में एकाकी यात्रा करते हुए बुद्ध को गरज कर कहा—ठहर जाओ, नहीं तो मैं तुम्हारी हत्या कर दूँगा, तब बुद्ध ने क्या कहा?—'अंगुलिमाल! मैं तो कब का ठहरा हुआ हूँ। ठहरना तो तुम्हें है।' मैं तो कब का ठहरा हुआ हूँ अर्थात् मैं तो कब का बदला हुआ हूँ, ठहरना तो तुम्हें है अर्थात् बदलना तो तुम्हें है। कहते हैं, बदले हुए, ठहरे हुए बुद्ध की वाणी ने अंगुलिमाल पर जादू का कार्य किया और उसने अपने अस्त्र-शस्त्र बुद्ध के चरणों पर डाल दिये। वह उनका अनुगत हो गया। अंगुलिमाल जब तक लोगों की हत्या में लगा रहा तब तक वह असल में भागता रहा, दौड़ता रहा। भागता रहा अपने से, दौड़ता रहा अपनी ओर पीठ देकर। जब बुद्ध ने उससे कहा था—'ठहरना तो तुम्हें है' तब उनका इशारा इसी बात की ओर था कि अपने स्वरूप को पहचानो, अपने को रू-ब-रू, आमने सामने होकर देखो। बुद्ध की शरण में आया हुआ अंगुलिमाल बदला हुआ अंगुलिमाल था।

हमें भी अपने को बदलना होगा। आखिर कब तक भागते रहेंगे हम अपने से? प्रोफेसरों पर कातिलाना हमला करनेवाले छात्र, युवती का सामूहिक बलात्कार करनेवाले पुलिसकर्मी, ट्रेन और बस के यात्रियों को लूटनेवाले दिग्भ्रांत युवक, रास्ता रोककर चन्दा वसूलनेवाले नागरिक, दहेज की कमी के कारण नववधू को जिन्दा जलानेवाले लोग—ये सब-के-सब भाग तो रहे हैं, अपने स्वरूप से, अपने यथार्थ से, अपने सत्य से।

क्यों हम भाग रहे हैं अपने से, अपने स्वरूप से? गहराई में जाने से लगता है कि इसके मूल में है काम-कांचन के प्रति हमारी तीव्र आसक्ति। श्रीरामकृष्ण काम-कांचन से बचने का उपदेश प्रायः ही अपने शिष्यों को देते रहते थे। वे कहा करते थे—'कामिनी-कांचन ही मनुष्य को संसार में डुबाये रखते हैं।—यदि जीव के मन में से काम-कांचन की आशक्ति मिट गयी तो फिर उसके लिए शेष ही क्या रह गया?—केवल ब्रह्मानन्द! श्रीरामकृष्ण के उपयुक्त उपदेश को अमल में लाने की, अपने जीवन में उतारने की आज जितनी जरूरत है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी।

ऐसा नहीं है कि श्रीरामकृष्ण गृहस्थों को पत्नी से ही अलग-थलग हो जाने या उससे घृणा करने को कहते थे अथवा, जीवन-यापन के लिए भी अर्थ की व्यर्थता की घोषणा करते थे। नहीं, वे तो अपनी पत्नी को अशेष अनुराग देने और शुद्ध माध्यम से अर्थोपार्जन कर जीवनयापन करने की प्रेरणा ही देते थे। लेकिन हाँ, काम और कांचन को जीवन का सर्वस्व, जीवन का मूल दर्शन मानने की मनाही वे अवश्य करते थे। आज हमारे देश और समाज में हिंसा, रक्तपात लूट-खसोट, भ्रष्टाचार, कदाचार, पापाचार और दुराचार की जितनी घटनाएं घटित हो रही हैं उनके मूल में काम-कांचन का जीवन-दर्शन ही तो काम कर रहा है! सच पूछिए तो कांचन की वर्चस्वता हो गयी है। क्योंकि कांचन से काम की पूर्ति आसानी से आज होने लगी है। हम कल की अपेक्षा आज और आज की अपेक्षा अभी ही मालामाल हो जाना चाहते हैं—चाहे जिस तरीके से हो, येन-केन-प्रकारेण।

अर्थ की महत्ता ने नैतिकता की व्यर्थता घोषित कर दी है। अक्सर लूटपाट करनेवाले गरीब नहीं, बल्कि धनिकों के पुत्र हुआ करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? क्योंकि उन्हें जितने रुपये मिलते हैं उनसे अधिक, और अधिक वे चाहते हैं। बड़ी दिलचस्प बात यह है कि ऐसे युवकों के पास जो प्रेम-पत्र उपलब्ध होते हैं उनमें प्रेमिकाओं की ओर से सोने-हीरों के आभूषणों की मांग रहती है और प्राप्त आभूषणों के लिए धन्यवाद ज्ञापित हुआ रहता है। अर्थात् मूल में है कंचन। कंचन के दर्शन ने, रुपयों की दुर्बलता ने हमारी मति हर ली है, हमारी गति हर ली है। अर्थ की आसक्ति हमें स्थिर नहीं होने देती। रुपयों का लोभ हमें अपने को बदलने नहीं देता; अपने निज-स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होने देता। कंचन का कोलाहल हमें ऊँची चेतना से जुड़ने नहीं देता।

पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी
मेरे पग पीछे जाते हैं ऐसी मेरी गति हारी
तुमसे सदा छिपाता आया मैं जीवन की कमजोरी
तुम्हें नहीं संचित कर पायी मेरी चंचलता भोरी
सदा बटोरे फिरा हृदय में मैं प्रमाद की अस्थिरता
मेरे भीतर सदा रहा संदेहों का बादल घिरता

डसती रही मुझे रह-रह अपनी असफलताएँ सारी
पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी।

जब तक हम अपने को बदलते नहीं हमारी हर यात्रा उल्टी हो जाती है, हमारी हर गति हमें पीछे की ओर धकेल देती है। जब तक हम अपने को बदलते नहीं, हम सरल नहीं हो पाते हमारी कुटिलता हमें अपनी दुर्बलता अपनी कमजोरी भी प्रकट नहीं करने देती। समाज में हम अपने को ठीक-ठाक दिखाना चाहते हैं। भीतर से हम बीमार रहते हैं। बलात्कारी और दुराचारी, सदाचारी के रूप में अपने को दर्शित करना चाहता है। वह काम-काँचन के रोग से ग्रस्त होकर दुनिया भर के कुकर्म करता फिरता है, मदांध और अविवेकपूर्ण आचरण करता फिरता है और चाहता है कि समाज में उसकी प्रतिष्ठा भी बरकरार रहे। यह दुहरापन आज और भी हमें डँसने लगा है। हमारा विश्वास खंडित हो गया है, कामनाएँ ज्वार उठा रही हैं, लालसाएँ आग की लपटें बुन रही हैं, स्नेह और समर्पण, श्रद्धा और भक्ति हमसे नाता तोड़ बैठी हैं। हम एक गहरे अंधेरे में रोशनी की एक भ्रामक कल्पना कर जीने को अभिशप्त हो गये हैं। कैसी विवशता है, कैसी विडम्बना है ?

डिगती रही कामना मेरी, रह न सका विश्वास अचल
तुम तक पहुँच नहीं पाता है मेरे प्राणों का संबल
तुमने अपना स्नेह भरा पर जल न सका मेरा अंतर
कभी समर्पण के दीपक में ज्योति नहीं जागी पल भर
कभी न सपने में भी मुझसे छूटी मेरी अँधियारी
पल भर बदल न पाया मन को ऐसी मेरी मति मारी।

आखिर कामिनी और कांचन के प्रति ऐसी और इतनी आसक्ति आज हममें क्यों उभर आयी है ? ऐसा क्यों है कि हम काम-कांचन की पूर्त्ति के लिए आज तमाम मूल्यों, तमाम नैतिक आदर्शों और तमाम आचार-संहिताओं का होलिका-दहन करने लगे हैं ? बात यह है कि हम अपने मूल से कटते जा रहे हैं, बड़ी तेजी से। अपनी ऊँची धार्मिक, आध्यात्मिक विरासत से बिना रस लिए हुए हम अपने जीवन-तरु को विकसित करना चाहने लगे हैं। यह संभव नहीं है। हम अपनी भूमि से कटकर बहुत दिनों तक चल नहीं सकते, जी नहीं सकते। ताजा कटा हुआ पेड़ भी दो-चार दिनों तक हरा-भरा दीखता है। पर यह हरियाली एक भयंकर शुष्कता अपने भीतर छिपाए है। हम अपनी परम्परा से कटकर कुछ-दिनों तक चमक सकते हैं। लेकिन यह चमक हमारे सम्पूर्ण रूप से सूख जाने का घोषणा पत्र ही तो है। नहीं, हमें काम-कांचन की अत्यासक्ति से बचना होगा। अपने मूल रूप को पहचानना होगा, अपने से भागने की आत्मघाती साजिश से बचकर अपने को बदलने के लिए कमर कसकर आबद्ध होना ही होगा।

कैसे बदल सकते हैं हम अपने को ? एक ही उपाय है उसका और वह है स्वविवेक का आदर करना। अपने विवेक का आदर कर हम अपना रूपान्तरण कर सकते हैं। क्या विवेक किसी पर कातिलाना हमला करने, किसी के साथ बलात्कार करने, किसी को लूटने, किसी की हत्या करने की इजाजत देता है ? अगर नहीं, तो यह काम हम त्रिकाल में भी क्यों करें ? क्या विवेक हमें स्वधर्म का त्याग करने की आज्ञा देता है ? अगर नहीं; तो हम ऐसा क्यों करें ? और स्वधर्म क्या है ? नीचे से ऊँचे

को ओर, निम्न से उर्ध्व को ओर उठने का प्रयास ही तो स्वधर्म है ? स्वामी विवेकानन्द ने बड़े ओजस्वी और मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा है--"निम्न को त्यागो, जिससे कि तुमको उच्च प्राप्त हो सके। समाज का आधार क्या है ? नैतिकता, सदाचार, नियम। त्यागो ! अपने पड़ोसी की सम्पत्ति हथियाने की, अपने पड़ोसी पर चढ़ बैठने की सारी लालसा को, दुर्बलों को यातना देने के सारे सुख को, झूठ बोलकर दूसरों को ठगने के सारे सुखों को त्यागो। क्या नैतिकता समाज का आधार नहीं है ? विवाह व्यभिचार-त्याग के अतिरिक्त और क्या है ? बर्बर विवाह नहीं करते। मनुष्य विवाह करता है, क्योंकि वह त्यागता है। यह क्रम इसी प्रकार चलता जाता है। त्यागो ! त्यागो ! बलि दो ! छोड़ दो ! शून्य के लिए नहीं न कुछ के लिए नहीं। वरन् ऊँचा उठने के लिए। पर यह कौन कर सकता है ? तुम यह उस समय तक नहीं कर सकते जब तक कि तुम ऊँचे नहीं उठ जाते। तुम बातें कर सकते हो। तुम संघर्ष कर सकते हो। तुम बहुत-सी बातें करने का प्रयत्न कर सकते हो। पर जब तुम ऊँचे उठ जाते हो तो वैराग्य स्वयं आ जाता है। तब न्यूनतर स्वयं छूट जाता है।"[1]

हम अनेक दुष्कर्म इसलिए भी कर बैठते हैं कि हम यह मानते हैं कि शरीर सत्य और नित्य है। फिर इस शरीर के सुख के लिए कुछ भी क्यों न करें। मगर विवेक से यही सिद्ध होता है कि न तो शरीर नित्य है और न हम शरीर हैं। "महान् पुरुषों की मृत्यु हुई है। दुर्बलों की मृत्यु हुई है। देवताओं की मृत्यु हुई। मृत्यु—सब ओर मृत्यु। यह संसार अनन्त अतीत का कब्रिस्तान है, फिर भी हम इस (शरीर) से चिपके रहते हैं : "मैं कभी मरनेवाला नहीं हूँ"। हम निश्चित रूप से जानते हैं (कि शरीर को मरना होगा) और फिर भी इससे चिपटे हुए हैं। पर इसमें भी एक अर्थ है (क्योंकि एक अर्थ में हम नहीं मरते)। गलती यह है कि हम शरीर से चिपटते हैं, जब कि जो आत्मा है, वह वास्तव में अमर है।"[2]

अब अगर आत्मा अमर है तो उस पर विचार होना चाहिए। उस पर ध्यान करना चाहिए और आत्मा की अमरता का अनुभव कर लेना चाहिए। और जब आत्मा को अमरता का अनुभव हो जायगा तब क्या हम शरीर और उसके सुखों के पीछे दौड़ते फिरेंगे और उन सुखों के लिए अनेक कर्म-कुकर्म करते रहेंगे ? हमें सोचना चाहिए कि अधिक ऊँचा क्या है, उन वस्तुओं के पीछे दौड़ना जो नाशवान है अथवा .....उसकी पूजा करना, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता ? क्या अधिक व्यावहारिक है वस्तुओं को प्राप्त करने में जीवन की सारी शक्तियों का व्यय करना, जिनको प्राप्त करने से पहले ही मृत्यु आ जाती है, और तुमको उन सबको छोड़ देना होता है ?—उस महान् (राजा) की भाँति, जिसने सब जीत लिया था। जब मौत आयी तो उसने कहा, "सब वस्तुओं के कलशों को मेरे सामने फैलाओ।" उसने कहा, "उस बड़े हीरे को मुझे दो।" और उसने उसे अपनी छाती पर रखा और रो पड़ा। इस प्रकार वह रोते हुए मरा, वैसे ही, जैसे कुत्ता मरता है।"[3]

स्वभावतः हमें आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने के लिए तत्पर हो जाना होगा। "आत्मा की अनुभूति आत्मा के रूप में करना व्यावहारिक धर्म है। अन्य सब बातें वहीं तक ठीक हैं, जहाँ तक वे इस महान् लक्ष्य की ओर ले जाती हैं। इस (अनुभूति) की प्राप्ति की जाती है त्याग से, ध्यान से—सब इन्द्रिय सुखों के त्याग से, उन ग्रंथियों और शृंखलाओं को काटकर जो हमें भौतिकता से बाँधती है। मैं भौतिक जीवन नहीं चाहता, वरन् कुछ ऊँची वस्तु चाहता हूँ। यह त्याग है। तो ध्यान की शक्ति से उस अनिष्ट का निराकरण करो, जो हो चुका है।"[4]

मुझे लगता है कि आज का मनुष्य, विशेषकर युवक यदि प्रति दिन मात्र दस मिनट भी ध्यान पर बैठने की चेष्टा करें तो मनु उन तमाम कुंठाओं, तनावों और कुप्रभावों से बच सकते हैं जो उन्हें नाना प्रकार के दुष्कर्म करने को प्रेरित करते हैं।

यह सच है कि संसार में दुःख है। और दुःख भी मनुष्य को अविवेकितापूर्ण कार्य करने को कभी-कभी बाध्य कर देता है। लेकिन यह भी सच है कि जब तक संसार है तब तक सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, भद्र-अभद्र, शिव-अशिव आदि भी रहेंगे ही। हमें इनके बीच समरस रहने की कला या विज्ञान जानना ही होगा। हमें सुख और दुःख के बीच एक ही सत्ता, एक ही शक्ति को कार्यरत देखने की दृष्टि बनानी होगी। अतः स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे – "निर्भीक बनो, तथ्यों का सामना तथ्यों की भाँति करो। अशुभ के भय से विश्व में इधर-उधर न भागो"—सुख आयेगा—बहुत ठीक; कौन रोकता है? दुःख आयेगा; उसका भी स्वागत है।—वीर होने का अर्थ है, माँ (परम सत्ता) में विश्वास। यह माँ है, जिसकी छाया जीवन और मृत्यु है। सब सुखों का सुख वही है। सब दुःखों में दुःख वही है। यदि जीवन आता है, तो वह माँ है, यदि मृत्यु आती है, तो वह माँ है। यदि स्वर्ग आता है, तो वहाँ वही है, यदि नरक आता है, तो वहाँ माँ है; गोता लगाओ। हम में विश्वास नहीं है, हममें यह देखने की धैर्य नहीं है।"[5] और जबतक यह विश्वास, यह धैर्य हममें नहीं आता, तबतक हम अपने से भागते रहेंगे। और जबतक हम अपने से भागते रहेंगे, तबतक हम बदलेंगे नहीं। और जब तक हम अपने आप को बदलेंगे नहीं, तबतक हम सुख-दुःख के झूलों पर झूलते हुए आत्मघाती, समाज-विरोधी, अनैतिक और अशुभ-अभद्र आचरण करते ही रहेंगे। इसी से मैं आप सबसे, प्रत्येक व्यक्ति से कहता हूँ—भागो नहीं, बदलो।

मैं जानता हूँ मित्रो, आपमें से कुछ कहेंगे—"न राधा को नौ मन घी होगा, न राधा नाचेगी। न लोग त्याग, विवेक और श्रद्धा-विश्वास में प्रविष्ट करेंगे न काम-कांचन से विरत होंगे और न समाज से दुष्कृत्यों का अन्त होगा। फिर इस लम्बे प्रलाप का क्या अर्थ?" नहीं, ऐसा नहीं है। हमें मनुष्य की अच्छाई में, उसकी ऊपर उठने की लालसा और ललक में विश्वास रखना चाहिए। वह अपनी लम्बी और ऊँची यात्रा में अग्रसर है ही। यह भिन्न बात है कि कभी वह फिसल जाता है, कभी गिर-लुढ़क जाता है। मगर फिर वही देह झाड़कर उठ खड़ा भी होता है, उच्चतम की यात्रा की ओर डेग उठाने के लिए। तब तक हमें अलख जगाये रखना ही होगा—

लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम के गाता चल
नम होगी यह मिट्टी जरूर, आँसू के कण बरसाता चल।

भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी महाराज से मेरी आंतरिक प्रार्थना है कि वे हमें अपने सत्यस्वरूप से भागने की प्रवृत्ति से हटाकर हमें अपने को बदलने की ओर उन्मुख करें ताकि हम परम शान्ति और आनन्द का समाज गढ़ सकें। जय श्रीरामकृष्ण।

---

१. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० १७६ २. वही : वही : पृ० वही
३. वही : वही : पृ० १७९ ४. वही : वही : पृ० वही
५. वही : वही : पृ० २०८-९

साम्प्रदायिक एकता के प्रतीक-सन्त कबीर

—स्वामी शशांकानन्द
प्राचार्य, रामकृष्ण मिशन समाज सेवक संस्थान, बेलुड़मठ

'अनेकता में एकता' यह भाव भारतीय धर्म और संस्कृति का प्राण रहा है। भारत के ऋषियों ने एक ओर जिस प्रकार ३३ करोड़ देवताओं की धारणा की थी, तो उसी प्रकार दूसरी ओर इन ३३ करोड़ देवताओं में प्रकाशित होने वाले एक ही अखण्ड सच्चिदानन्द निर्गुण-निराकार ब्रह्म की अनुभूति भी की थी। यही भारत की परम्परा रही है। वैदिक काल में ही 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' इसी मूल मंत्र ने सभी मतों, धर्म और सम्प्रदायों को पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, उदारता और एकता के सूत्र में बाँधा था। भारत एक ऐसी फुलवारी रही है जिसमें विभिन्न मतों, विभिन्न जातियों, विभिन्न भाषाओं और विभिन्न सम्प्रदायों के रंग-बिरंगे फूल सदा खिलखिलाते रहे हैं। भारत का सनातन धर्म सदा उदारता की मूर्ति बना रहा है और प्रत्येक प्राणी को उसकी अपनी रुचि के अनुसार अपना मत तैयार करने का पूर्ण अधिकार देता रहा है।

भारत में ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, सिक्ख धर्म आदि उत्पन्न हुए, गाणपत्य, शाक्त, शैव, वैष्णव कितने मतों ने जन्म लिया तथा तन्त्र आदि उपासना पद्धतियों ने सभी मतों को प्रभावित किया किन्तु, ये सभी एक दूसरे के सहायक ही रहे। पारसी, यहूदी, ईसाई आदि विदेशी धर्म भारत में शरणार्थी के रूप में आये और भारतीय संस्कृति में समा गये। इस प्रकार भारत की आध्यात्मिक-चेतना सर्वदा अक्षुण्ण रही। किन्तु विदेशी आक्रमणों के साथ-साथ विदेशी धर्मों और सम्प्रदायों का प्रवेश हुआ। शासकों की नीति में धर्मान्तर का बड़ा स्थान था अतः परिस्थितियाँ बदल गयीं।

जिस प्रकार से किसी भी प्राणी के शरीर में जीवनी शक्ति का ह्रास और प्रतिकूल कीटाणुओं का आक्रमण उसे रोगी बना देता है उसी प्रकार किसी समाज या राष्ट्र के लिए भी अनुकूल परिस्थितियों का अभाव और प्रतिकूल परिस्थितियाँ बाधा बन कर खड़ी हो जाएँ तो सारा राष्ट्र दुर्बल हो जाता है। सम्भवतः जोर-जबरदस्ती धर्मान्तर होने के कारण भारतीय धर्म व सम्प्रदायों में संकुचितता आयी और उसके परिणाम स्वरूप धर्मान्तर और भी गतिशील हो गया। और फिर अपने-अपने सम्प्रदाय की गूढ़ता को सुरक्षित रखने के प्रयत्नों में विवेक और प्रकृत ज्ञान के अभाव में विकृतियों का प्रवेश हुआ। कट्टरपंथी आचार्यों ने धर्म और सम्प्रदायों की बागडोर संभाली। बाह्याचरण, जाति-भेद, छुआ-छूत ने प्रकृतधर्म का स्थान लिया। धार्मिक संकीर्णताओं ने विकट रूप धारण किया। संप्रदायों में पारस्परिक विरोध, द्वन्द्व, झगड़े बढ़ने लगे।

शैव, शाक्त और वैष्णव मतों में परस्पर संबन्ध रहते हुए और आदान-प्रदान होते हुए भी अपने मतवाद की संकीर्णताओं के कारण मतभेद भी हुए। सांप्रदायिक राग-द्वेष बढ़ते ही गये और उसी कारण विचारधारा दूषित हो गयी।

उधर जैन धर्म में अनेक सम्प्रदाय हो गये। उनमें परस्पर स्पर्धावश कटुता आ गयी। धर्म को

तात्विकता से वंचित ये सम्प्रदाय केवल उपहास्य योग्य ही रह गये थे।

सारे भारतीय संम्प्रदायों में परस्पर द्वेष, हिन्दु-मुसलमान में बढ़ते वैमनस्य, सूफी सम्प्रदाय की प्रबलता, नाथ पंथ का निरतिशय वैराग्य ने परिस्थितियों को बिगाड़ दिया था। फिर वैराग्य का अभाव तथा वर्णाश्रम धर्म में शिथिलता के कारण बड़ी ही विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी।

प्रकृत धर्म की धारणा से वंचित, श्रद्धा और विश्वासहीन समाज जाति-पाति, छुआ-छूत के कारण अत्यन्त विपन्नावस्था में हिन्दुओं का मुसलमान हो जाना इत्यादि; अत्यन्त संकटकालीन परिस्थितियों में धर्म के वास्तविक स्वरूप और उसके मूल सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने के लिए साम्प्रदायिक एकता के प्रतीक सन्त कबीर का आविर्भाव एक युग-प्रयोजन था। भारतीव धर्म के इतिहास में एक परम्परागत घटना थी। संत कबीरजी ने धर्म और समाज के संघटन के लिए, समस्त व्राह्माचरणों का अन्त करने के लिए, और प्रेम से समान धरातल पर रहने का एक सर्वसामान्य प्रतिपादन किया।

तत्कालीन नितांत बहिर्मुखी, कोरे आचारी व्राह्माचरण में रत दम्भी समाज की खिल्ली उड़ाते हुए कबीरजी ने उस पर करारा व्यंग्य प्रहार इस प्रकार किया—

चली है कुल बोरनी गंगा नहाय।
सतुवा कराइन बहुरी भुंजाइन,
घूँघट ओढ़े मसकत जाय।
गठरी बाँधिन, मोटरी बाँधिन,
खसम के मूँड़े दिहिन धराय।
बिछुवा पहिरिन औंठा पहिरिन,
लात खसम के मारिन धाय।
गंगा न्हाइन, जमुना न्हाइन,
नौ मन मैल है लीन्ह चढ़ाय।
पाँच पचीस के धक्का खाइन,
घरहुँ की पूँजी आई गँवाय।

—धर्म के सच्चे स्वरूप को न जानने वाले पुण्य कमाने की बात सोचते हैं, परन्तु पाप को ही बढ़ाते हैं। ऐसे स्त्री की शृंगार और रसास्वादन की वृत्ति छूटती नहीं। वह अपने पति का तिरस्कार करती है और घर की पूँजी धूर्तों के हाथ सौंप बदले में भगवान को पाना चाहती है।

इस उक्ति से कबीर साहब यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर की प्राप्ति बाह्याचरणों से नहीं होती, गंगा स्नान, जमुना स्नान, मंदिर, मस्जिद आदि निरर्थक हैं यदि धर्म के प्रकृत स्वरूप का ज्ञान न हो। मत-मतान्तर, धर्म-सम्प्रदाय सभी निरर्थक हैं यदि उसमें गुरु भक्ति, ईश्वर प्रेम, वैराग्य, विवेक, और भगवन्नाम के प्रति अनुराग न हो इसलिए उन्होंने कहा,

"कहत कबीर हेत कर गुरु सों,
नहिं तोर मुकुती जाइ नसाई॥

गुरु भक्ति में ही कबीरजी ने जीवन और धर्म की एकता का अनुभव किया था।

कबीरजी के जीवन चरित्र के विषय में आज तक कोई प्रमाणिक वृत्तान्त नहीं मिल सका। कई लोग उन्हें मुसलमान मानते हैं और कई उन्हें हिन्दू, कोई उन्हें सूफी सन्त कहते हैं तो कोई कहते हैं वे हिन्दू फकीर थे। इतना अवश्य निश्चित है है कि उनका जीवन मुसलमान परिवार में बीता और हिन्दू साधुओं का सतसंग उन्हें प्राप्त होता रहा। यद्यपि वे सूफी सन्त शेख तकी के सम्पर्क में आये थे किन्तु स्वामी रामानन्दजी को ही उन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया। शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त उन्होंने परमात्मा के अमूर्त और निर्गुण

रूप का अनुभव किया और इस अनुभूति के आधार पर जिस निर्गुणवाद को रचना की, वही उस समय की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सुन्दर आयोजन बना और भारतीय संस्कृति ने एक मोड़ लिया।

सन्त कबीर ने वेदान्त की उच्च विचारधारा को अपनाया था जिसके अनुसार प्रत्येक जीव में अन्तर्निहित अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने सभी वर्ण जाति, धर्म और सम्प्रदायों की विभिन्नताओं में अभिन्नता को अनुभूति की थी और इसीलिए वर्ण, जाति के प्रति उनका विरोध था और हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्मों की कट्टरता के प्रति उनकी नाराजगी थी। बौद्ध धर्म के शून्यवाद और उसे चुनौती देने वाले आचार्य शंकर के मायावाद दोनों को ही सन्त कबीर ने अपने दार्शनिक चिन्तन में स्थान दिया। उन्होंने धार्मिक संघर्ष और संकीर्णता से युक्त एक नया पंथ चलाया जो सर्व-धर्मसार स्वरूप एक स्थायी सार्वभौम मार्ग का निर्देश कर सके। उन्होंने जाति, वर्ण एवं सम्प्रदायों को सीमा का अतिक्रमण कर एक ऐसे मानव-धर्म और मानव-समाज को स्थापना की जिसमें सभी मत के लोग अपने लिए स्थान पा सकें। उन्होंने एक ऐसे विश्वधर्म की स्थापना की जो जन-जीवन की व्यावहारिकता में सहज हो उतर सके और सभी अन्य धर्मों के प्रवाह में समानान्तर बहते हुए भी अपना स्वरूप सुरक्षित रख सके।

मत-मतान्तर साधारणतया प्रवर्तकों, शास्त्रों, पूजा व उपासना पद्धतियों, बाह्याचरणों आदि को लेकर होते हैं किन्तु सभी मत-मतान्तरों में भौतिक सत्य, चरमानुभूति और प्रवर्तकों की आध्यात्मोपलब्धियों में कोई भेद नहीं होता। इसीलिए कबीर जी ने अपने निर्गुणवाद में वेद-कुरान, अवतारों और धर्म-प्रवर्तकों के लिए कोई स्थान नहीं रखा। कबीरजी की जीवनी और उनकी रचनाओं में शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा, अनुभव ज्ञान का अधिक महत्व मिलता है। गुरु-भक्ति और सत्सङ्ग में उनका अधिक विश्वास था। उनके विचार में ब्रह्म एकमेवाद्वितीयम हैं जो निर्गुण-सगुण से भी परे हैं। वह निर्विकार, अरूप और सर्वव्यापक हैं। योग भक्ति ही उसकी उपलब्धि के साधन हैं। जो दीखता है वह माया है, मिथ्या है।

निर्गुण निराकार के नीरस ज्ञान में रसपूर्ण भक्ति का सुन्दर समावेश कबीरजी के पदों और भजनों मे हमें मिलता है। उन्होंने पण्डित की परिभाषा देते हुए कहा,

पोथो पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय,
ढ़ाई अक्षर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय।

भक्ति-साधनों में साधक ईश्वर से शान्त, दास्य, साख्य, वात्सल्य और कान्त भाव से नाता जोड़ता है। कबीर दासजी ने ये सभी नाते ब्रह्म निरंजन से जोड़कर सभी सम्प्रदायों को एक असाम्प्रदायिक मंच पर खड़ा कर दिया। उनके भजनों में ये सभी भाव मिलते हैं जैसे—

आप बिना कौन सुने प्रभु मेरी।
दास की निपत निवारण कीजे।
अर्ज करूँ कर जोरी॥

इस पद में उनका दास भाव है

जो बिछुड़े हैं प्यारे से
भटकते दर-बदर फिरते
हमारा यार है हममें
हमन को इन्तजारी क्या।

इसमें सख्य भाव है।

घूँघट का पट खोल रे तोहे पिया मिलेंगे

इस पद में कान्त भाव है।

कबीर दासजी के समय सामान्यरूप से योग और भक्ति में विरोध माना जाता था। किन्तु कबीरजी ने श्री रंग, हरि, राम गोविन्द, शिव आदि से सम्बन्धित भक्ति भाव को योग सिद्धान्त से समन्वित कर आध्यात्मिक साधना को प्रेममय बना दिया। उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म के साथ प्रेम के सम्बन्ध स्थापित कर वेदान्त ज्ञान को बहुत ही सरस बना दिया।

सन्त कबीर का जीवन सभी धर्म, मतों और संम्प्रदायों का समन्वय स्वरूप था। वे न हिन्दू थे, न मुसलमान पर दोनों के ही थे। वे न संन्यासी थे, न गृहस्थ। वे त्यागी, वैरागी, प्रेमी थे। वास्तव में वे साम्प्रदायिक एकता के अपूर्व प्रतीक थे।

(प्रस्तुत लेख आकाशवाणी के कलकत्ता केन्द्र से २१-१२-१९९३ को प्रसारित किया गया था। इसके प्रसारण के लिए हम उक्त केन्द्र के आभारी हैं।—सं०)

□

स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज के संस्मरण

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवाद—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

भक्त-प्रवर स्वर्गीय बलराम बसु महाशय के कलकत्ता के बाग बाजार स्थित भवन में सन् १९१९ ई० के जून महीने में श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज निवास कर रहे थे। उस समय वहाँ बहुत से लोग इन ब्रह्मवित् महायोगी के दर्शन करने और उनसे धर्म-साधना के विषय में उपदेश सुनने के लिए जाया करते थे। श्री श्रीमहाराज जहाँ भी रहते, वहीं शान्ति और आनन्द का अनवरत स्रोत बहता था। संसार के दुःख-शोक से कातर कुछ व्यक्ति भी उनके श्रीमुख से करुणापूर्ण सांत्वना की वाणी सुनकर जीवन की ज्वाला को शान्त करते थे। दुःख-शोक से जर्जरित संसार संतप्त मनुष्य उनकी परम-प्रशान्त ज्योतिर्मय आनन्दमूर्ति को देखकर सचमुच समस्त दुःख-ज्वाला को भूल जाते थे। दूसरी ओर अल्पवयस्क, मुमुक्षु वैराग्यवान-अविवाहित युवक महाराज के प्रत्यक्ष-अनुभूति-संपन्न और प्राणप्रद उपदेश सुनकर धर्म-साधना और मुक्ति-लाभ का मार्ग प्राप्त करते थे। उनके वे सारे उपदेश अभी भी अनेक ईश्वर-विश्वासी और धर्म-अन्वेशी लोगों को अभय, आशा और आश्वासन प्रदान कर रहे हैं।

उसी समय एक दिन बागबाजार के बलराम बाबू के मकान में अपराह्न में एक गृहस्थ व्यक्ति ने श्री श्रीमहाराज से प्रश्न किया :

"महाराज जी, भगवान ही यदि समस्त शान्ति के मूल हैं, तो फिर लोग उनको भूलकर संसार के असार विषयों में मस्त क्यों हो जाते हैं?"..... —श्री श्रीमहाराज ने उत्तर दिया। "भगवान समस्त शान्ति के स्रोत हैं, यह बात सत्य है। ईश्वर-साक्षात्कार करके ही मनुष्य इस संसार से उत्तीर्ण होकर अमृतत्व प्राप्त करता है। किन्तु यह बात कितने लोग समझ पाते हैं? जन्म-जन्मान्तर की भोग-प्रवृत्ति और कुवासना ही धर्मलाभ की प्रधान बाधा है। सामान्य लोगों के

मन के तले (तलहटी) में ये सारे हीन संस्कार जमे हुए हैं। इसीलिए उनका मन मोहग्रस्त हो गया है; उनका मन सदा चंचल रहता है और केवल भोग के विषय खोजता रहता है। भोगवासना के संस्कार हैं, इसीलिए नित्य-वस्तु की ओर उनका मन नहीं जाता। देह की प्रवृत्ति प्रबल होने के कारण उनका विवेक गहरा दबा हुआ है। अपना कल्याण कैसे हो, शान्ति कैसे हो, यह ज्ञान उनमें बिल्कुल है ही नहीं। इसलिए उनका मन सत् स्वरूप की ओर नहीं जाता। उनमें सत् प्रवृत्ति नहीं है, इसीलिए वे ईश्वर को नहीं चाहते।"

"यह संसार दुःखमय है। यहाँ सुख बिल्कुल ही नहीं है। सुख के छद्मवेश में दुःख यहाँ नाना रूप धारण करके घूमता रहता है। इसलिए मनुष्य सुख-भोग के प्रयास में केवल दुःख ही पाते हैं। वासना ही समस्त दुःखों का मूल है। संसार के इस छल-कपट को पहचानना बहुत कठिन है। जिनमें विवेक-वैराग्य है वे ही समझ पाते हैं कि संसार में सुख-शान्ति बिल्कुल है ही नहीं। उनका मन असार विषय सुख की ओर नहीं जाता। वे जानते हैं कि धन-सम्पत्ति, रुपये-पैसे, मान-यश इत्यादि सभी बन्धन हैं। वे जान गये हैं कि इनमें शान्ति नहीं, बल्कि नाना दुःख और अशान्ति है। वे जानते हैं कि संसार का सुख क्षणस्थायी है, वह सुख सुख है ही नहीं। इस सुखभोग का परिणाम विषमय है। इनमें केवल ज्वाला है शान्ति कहीं नहीं है। वास्तविक शान्ति केवल एकमात्र उस ईश्वर में ही हैं। समस्त भोग वासना को पूरी तरह त्याग कर जो लोग ईश्वर को पकड़े हुए हैं, वे ही इस दुःख-अशान्ति से छुटकारा पाते हैं।"

गृहस्थ : महाराज ! ऐसे सर्वत्यागी लोग हैं कहाँ ? संसार में देखते हैं, कि सभी रुपये पैसे, धन-संपद्, भोग-सुख चाहते हैं। भगवान को सचमुच चाहने वाले तो कोई दिखाई नहीं देते।"

महाराज : "इसीलिए तो संसारी लोग नाना अशान्ति में जलते रहते हैं। बार-बार इतना दुःख कष्ट पाकर भी संसारी लोग ईश्वर को पुकारना नहीं चाहते।

"भगवान् को सचमुच चाहने वालों की संख्या बहुत कम है। अधिक हुआ तो एक लाख में एक व्यक्ति। अनेक जन्मों के पुण्य और शुभ संस्कार होने पर विषयभोगों के प्रति आसक्ति नहीं होगी। हर कोई क्या मुमुक्षु साधक हो सकता है ? भीतर अहंकार, दंभ, स्वार्थपरता रहते भगवान् की ओर मन नहीं जाता। रुपये-पैसे, नाम-यश के अहंकार के कारण अधिकांश लोग फूल उठते हैं। रुपयों का मालिक होने पर मनुष्य अहंकार में मानो फट जाता है। धन का अहंकार भयानक है। पैसे के अहंकार से मनुष्य "धरा को सरा" (अर्थात् धरती को मिट्टी की रकाबी) समझने लगता है। फिर पाण्डित्य का अहंकार भी मनुष्य को कम अन्धा नहीं करता। जिनके भीतर सार-पदार्थ नहीं हैं ऐसे लोग ही पण्डित होकर दूसरे से घृणा करते हैं। इसके अतिरिक्त ईर्ष्या, परधन-लोलुपता, दूसरे का अनिष्ट करने की इच्छा -- ये दुर्गुण मनुष्य को एकदम पशु बना देते हैं।

मनुष्य का आकार होने मात्र से तो मनुष्य नहीं होता। जिसमें ज्ञान, पवित्रता, संयम है, वही ठीक-ठीक मनुष्य है। अन्दर जो ये दुर्गुण हैं, सर्वप्रथम तो उनपर विजय पाना आवश्यक है। पशु के स्तर से मनुष्य के स्तर पर उठना होगा, तभी तो धर्मभाव आयेगा।

मन में हजार प्रकार की हीन प्रवृत्तियों और कपट को रखकर साधना नहीं की जा सकती। सरलता, संयम, सत्यनिष्ठा के बिना आध्यात्मिक जीवन का कोई मूल्य नहीं है। आध्यात्मिक जीवन गठन के लिए दया, प्रेम, स्वार्थ-त्याग इत्यादि पहले आवश्यकता है। मन के सरल;

पवित्र हुए बिना कितना ही माला फिराओ और निरामिष भोजन करो, सब श्रम व्यर्थ होगा। बाहर से सजने से भक्त तो होगा नहीं, मन-प्राण से भक्त होना होगा। लंगर डालकर नौका चलाने से नौका एक कदम भी आगे नहीं बढ़ेगी। अहंकार, ईर्ष्या, स्वार्थपरता, ये सारे जंजाल पहले दूर करने होंगे। जमीन में यदि झाड़-झंकड़, कंकर इत्यादि हों तो ऐसे स्थान में खेती करने की मेहनत पूरी तरह व्यर्थ होगी। इसीलिए धर्मलाभ करने के लिए पहले मन को सरल, पवित्र, निर्मल करना होगा। लोभ-लालसा, आलस्य और ईर्ष्यालु स्वभाव के कारण हजारों लोग साधु होकर भी धर्मलाभ नहीं कर पाते। ईर्ष्यालु, आलसी और पेटू व्यक्ति के लिए साधक होना असंभव है।

गृहस्थ : महाराज ! तब फिर हम जैसे लोगों के लिए क्या उपाय है ?

महाराज : देखो वास्तविक धर्म-जीवन यापन करना हो तो भोग और योग का समझौता नहीं चल सकता। विषय-वासना का पूरी तरह त्याग करना होगा। वासना का एक कण भी रहने पर भगवान में मन नहीं लगता। सरल और पवित्र होकर सोलह आना मन-प्राण उड़ेलकर साधन-भजन में डूबे बिना धर्मलाभ, असंभव है. अहंकार को पूरी तरह उखाड़ फेंकना होगा। समस्त-सुख भोग की आशा का विसर्जन कर केवल ईश्वर में डूबे बिना कोई उपाय नहीं है। जिस कार्य की उन्नति करना चाहते हो, उस कार्य में सदा सोलह आना मन देकर लगे रहना पड़ता है तभी उस कार्य में सफलता प्राप्त होती है। इसी तरह ईश्वर को प्राप्त करने के लिए समस्त भोग की आशा दूर करके केवल उन्हीं के ध्यान में, उन्हीं के चिन्तन में स्वयं को विस्मृत कर देना होगा। हिसाबी बुद्धि रहने पर इस पथ पर उन्नति करना कठिन है। पैसा इकट्ठा करना बहुत खराब आदत है। जो साधु होकर पैसे जमा करता है, उसका इह-काल और परकाल दोनों नष्ट हो जाते हैं। साधन पथ पर उसकी और प्रगति नहीं होगी। इस जन्म में उसका कुछ नहीं हो सकता। या तो संसार, या ईश्वर, दोनों में से एक को लेकर रहो (चुन लो) – दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते। विषयों के प्रति आशक्ति और भगवान के प्रति अनुराग बिल्कुल विपरीत वस्तुएँ हैं, जैसे दिन और रात। जहाँ संसार है, वहाँ भगवान नहीं— जहाँ भगवान है वहाँ संसार नहीं है। संसार के सारे सुख भोग करूँगा अथवा भगवान को भी पाऊँगा— यह कभी भी नहीं हो सकता।

गृहस्थ व्यक्ति : महाराजजी यह सब तो संन्यासियों के लिए ही संभव है। जो स्त्री-पुत्र के साथ संसार में हैं, उनके लिए क्या उपाय है ?

महाराज : यही एक बात ही तो बार-बार बोल रहा हूँ। त्याग बिना मुक्ति नहीं होती। भोग और योग की कूट-मिलावट करने के लिए हमलोग (श्रीरामकृष्ण के सर्वत्यागी सिद्ध शिष्य गण) नहीं आये हैं। हम जानते हैं कि त्याग, संयम के बिना मुक्ति असंभव है। समस्त हीन संस्कारों पर विजय प्राप्त करनी होगी तभी मन नित्यवस्तु की ओर जायेगा। प्रथम तो मन चंचल है ही, विषय-चिन्ता में लगे रहने से और चंचल हो जायेगा। विषय-भोग से मन के ये सब हीन संस्कार और प्रबल हो उठते हैं। इन सभी हीन संस्कारों को उखाड़ फेंके बिना क्या कोई उपाय संभव है ? संसार में एक बार प्रवेश करने पर मन को और शुद्ध अवस्था में रखा नहीं जा सकता। इसलिए बाल्यकाल से ही साधन में लग जाना चाहिए। कम उम्र से ही साधन-भजन में एक मन से (एकाग्रता से) लगे रहने पर कुछ होने की संभावना है। साधना के अधिकारी वे ही हैं जो समस्त कामना-वासना को त्यागकर सर्वदा

नित्यवस्तु के चिन्तन में डूब गये हैं। जिनके शुभ-संस्कार हैं, वे बाल्यकाल से ही इस ओर आने की चेष्टा करते हैं। उनके भीतर ही जिज्ञासा पैदा होती है,- कहाँ हैं सदगुरु, जिन्हें खोजते-खोजते ढूँढ निकालने को।

मनुष्य जन्म बहुत दुर्लभ है। भोग सुख के नशे में मतवाले होकर ईश्वर को भूलने से मनुष्य जन्म व्यर्थ हो जाता है। उनका ही मनुष्य जन्म सार्थक है, जो बाल्यकाल से ही उस नित्य वस्तु को पाने के लिए प्राण-पण से चेष्टा करता है।

"संसार सुख नीरस प्रतीत होने पर साधक का मन उस ओर अधिक नहीं जाता। चारों ओर ऐसे सद्गुरू को खोजने लगता है, जिन्होंने स्वयं ईश्वर दर्शन किया है। तब उसका मन गुरू के पास जाकर साधन-भजन में डूबे रहना चाहता है। जिस किसी से दीक्षा लेने से क्या होगा? ब्रह्मज्ञ महापुरुष के अतिरिक्त अन्य गुरु से दीक्षा लेना किसी काम का ही नहीं है। जिसने आत्म साक्षात्कार नहीं किया है, ईश्वर लाभ नहीं किया है, वह तो स्वयं बद्ध है, वह दूसरे को धर्म क्या सिखायेगा? अंधा कभी अन्धे को पथ नहीं दिखा सकता। जिसका गुरु ही अन्धा हो, उस शिष्य की क्या कभी सद्गति हो सकती है?

'तीन बातें आवश्यक हैं—स्वयं में मुमुक्षुत्व, सद्गुरु का आश्रय, और सर्वदा सत्यतत्व का ध्यान। लड़कों में जिनमें सत्यसंस्कार और साधन की ओर मन का झुकाव देखता हूँ, उन्हीं को साधन-भजन की अन्तरंग बातें बता देता हूँ, जिनके भीतर सार-पदार्थ नहीं है, उन सब तामसिक लोगों को उपदेश देने मे क्या लाभ? बहुत से लोग तो आते हैं, किन्तु असली धर्म भाव एक-दो व्यक्तियों में ही देखता हूँ। उपदेश सुनकर जो प्राण-पण से प्रयत्न करते हैं, उन्हें ही उपदेश देना अच्छा लगता है। जो साधन-भजन नहीं करते, यहाँ-वहाँ गपशप करते फिरते हैं, ऐसे सारहीन लोगों को कुछ नहीं कहता। अधिकांश व्यक्ति तो अहंकारी, वाचाल और अति-बुद्धिमान हैं। एक-दो व्यक्तियों को छोड़ सच्चा वैराग्य और किसी में तो दिखाई ही नहीं देता। ठीक-ठीक मुक्ति-विश्वास लेकर कितने लोग यहाँ आते हैं? अधिकांश लोग केवल छिछले, हँसीमजाक, होहल्ला करनेवाले और विचार बुद्धिहीन ही होते हैं।"

गृहस्थ व्यक्ति : "तब तो ये जो इतने लोग मन्दिरों और तीर्थों में जाते हैं, साधुओं के दर्शन करने आते हैं, उनके भीतर क्या धर्म भाव नहीं हैं?"

महाराज : झुण्ड बनाकर उत्सव-तमाशा करने से धर्म-लाभ नहीं होता। ठीक-ठोक धर्म दो एक लोगों का ही होता है। धर्म नितान्त व्यक्तिगत वस्तु है। जिस किसी के साथ हो हल्ला करते हुए इधर-उधर घूमना साधक का लक्षण नहीं है। साधक धीर, स्थिर, एकनिष्ठ अन्तर्मुखी होता है।

असली धर्मभाव और कहाँ है? धर्म क्या इतना ही सस्ता है कि हजार-हजार लोग केवल एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर घूमने मात्र से उसे प्राप्त कर लेंगे? धर्म क्या बाजार का आलु-परवल है जो दाम देकर खरोद लेंगे? Mass में (जनसाधारण में) धर्म नहीं है। वे सब लोग घोर तमोगुणी हैं, साधना में डूबना नहीं चाहते। उनमें धर्म नहीं है, केवल देशाचार और लोकाचार मात्र है। भक्ति-विश्वास अनेक जन्म की साधना के फलस्वरूप होता है। लाखों में मात्र दो एक व्यक्तियों में धर्मभाव होता है। ये जो इतने लोग उत्सव में आकर आनन्द मनाते हैं, ठीक-ठीक भक्ति-विश्वास इनमें से क्या एक व्यक्ति

में भी है? संसार की हजार वासनाएँ उनके मन पर छायी हुई हैं। वहाँ ईश्वर स्थान कैसे पायेंगे? ईश्वर को एक प्रणाम करते समय भी वे उसके साथ दस कामनाएं जोड़ देते हैं।

हजारों लोग एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ घूमते रहते हैं; मन्दिरों में पूजा-पाठ करते हैं, किन्तु क्या सचमुच उनमें भगवान के प्रति आकर्षण है? क्या वे सचमुच भगवान को अपने से भी अपना जानकर प्रेम करते हैं? उत्सव में आकर प्रसाद लेने से ही कोई भक्त नहीं हो जाता। भक्त होना बहुत कठिन है। जिसके मन में सर्वदा भगवद्चिन्तन का प्रवाह चल रहा है, केवल वही भक्त है। जो निरवच्छिन्न रूप से भगवान् का भजन करता है, उसे ही भक्त कहते हैं। भक्त का केवल एक ही चिन्तन होता है—भगवान, भगवान और भगवान। भगवान ही उसके सारसर्वस्व होते हैं। उसका सारा मन केवल भगवान में ही डूब गया है। एक मात्र भगवान के अतिरिक्त मन में और कोई कामना नहीं है। असली भक्त को संसार के सुख जंजाल-समूल लगते हैं। भगवान को प्यार करने के सिवा वह और कुछ नहीं चाहता। यहाँ तक कि स्वर्गसुख और मुक्ति को वह महत्त्व नहीं देता। हजारों दुःख-कष्ट पाकर भी वह भगवान को नहीं भूलता। जितना वह दुःख-कष्ट पाता है; उतना अधिक वह भगवान को जकड़ कर पकड़ लेता है। क्योंकि वह जानता है कि भगवान के अतिरिक्त तीनों लोकों में उसका अपना और कोई नहीं है।

"भगवान् का स्वाद पाने के बाद क्या और कुछ अच्छा लगता है? भगवान के साथ जिसका मन प्राण एवं ध्यान एक हुआ है वही केवल भक्त हो सकता है। आजकल वैसी भक्ति, विश्वास, त्याग, वैराग्य कहाँ है? बाहर भक्ति का दिखावा (मुँह में राम बगल में छुरी) और भीतर कपट? भीतर एक बिन्दु भक्ति अनुराग नहीं, और इधर अपने को भक्त कहलाते फिरते हैं। भगवान पर सोलह आना निर्भर करके उनके शरणागत होकर पड़े रहना क्या हर कोई कर सकता है? ध्रुव प्रह्लाद, विदुर, शुकदेव, उद्धव आदि महापुरुष ही भगवान के भक्त हैं। भगवान के प्रति भक्ति के लक्षण देखना चाहो तो सनातन गोस्वामी को देखो। ऐसा त्याग, भक्ति, वैराग्य किसका है, दिखा सकते हो? ये जो ठाकुर के कुछ त्यागी सन्तान हैं उनके वैसा त्याग, वैराग्य, भक्ति, विश्वास और कहीं देखा है क्या?

गृहस्थ व्यक्ति : "महाराज! ये लोग कितने उन्नत हैं। इनके साथ क्या साधारण लोगों की तुलना हो सकती है?"

महाराज : यह सत्य है। इस प्रकार एकनिष्ठ, सर्वत्यागी होकर भगवान को पुकारे बिना उन्हें पाया नहीं जा सकता। धर्म-साधना का पथ अत्यन्त कठिन है। महामाया की माया के कारण लोग विषयों के फंदे में ऐसे भूले रहते हैं कि किसी भी तरह भगवान की ओर जाना नहीं चाहते। पग-पग पर कितनी परीक्षाएँ, कितने प्रलोभन कितनी बाधाएँ, कितने विघ्न आते हैं। इन सभी प्रलोभनों के साथ प्रतिपद लड़ाई करनी पड़ती है। माया के हाथ से बचना बहुत कठिन है। घर-द्वार छोड़ने पर भी मनुष्य माया से रिहाई नहीं पाता। साधु होकर भी लोग साधन-भजन करना नहीं चाहते। ऋषिकेश में देखा है, साधु लोग बैठे-बैठे बातचीत करते हैं या, झगड़ा कर रहे हैं। भगवान प्रसंग, जपध्यान का नाम ही नहीं, केवल गेरूआ वस्त्र धारण करके हरिद्वार या काशी में रहने से ही क्या ईश्वर लाभ हो जाता है? कुचिन्तन कुप्रवृत्ति, लोभलालसा को दूर करके संघ ब्रह्मचिन्तन, ध्यान-धारणा में लगे न रह सकने पर जीवन दिशाहीन हो जाता है।

चाहे कितने ही बड़े महापुरुष से दीक्षा लो, स्वयं को सोलह आना साधन-भजन में लगाये रखना होगा। बिना तपस्या के ब्रह्मा की भी मुक्ति संभव नहीं है। ब्रह्मज्ञ पुरुष से दीक्षा लेने से ही नहीं होगा, प्राण-पण से साधन-भजन करना चाहिए। इसलिए बाल्यकाल से ही सत्‌चिन्तन, सद्‌विचार, ध्यान-धारण में एक मन से लगे रहना पड़ता है। कर्मफल बड़ा भयानक है। इसके कारण-बड़े-बड़े महापुरुषों के शिष्य होकर भी अनेक लोग कुछ भी नहीं कर पाते। भीतर सत्संस्कार न होने पर गुरु क्या करेंगे? शुद्ध मन से साधन-भजन में प्राण-पण से लगे रहने पर वस्तुलाभ होता है। उपयुक्त गुरु के उपयुक्त शिष्य होने पर ही कार्य सधता है। आन्तरिक पवित्रता ही वास्तविक वस्तु है। इसीलिए शुद्ध अन्तःचरण में ही आत्मतत्व का प्रकाश होता है।

[विश्ववाणी, ११वाँ वर्ष; अंक ७, भाद्र १३५६
पृष्ठ ३३६ से ३४० तक।
संग्रहकर्ता : नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य]

(उद्‌बोधन—जून १९९२ से साभार)

रामकृष्ण आश्रम, राजकोट में दिनांक ५.५.९५ को आयोजित युवा शिविर में-

युवकों के प्रश्न : स्वामी ब्रह्मेशानन्द के उत्तर

प्रश्न : क्या आप संन्यासी लोग राष्ट्र के लिए राजनीति में प्रवेश कर सकते हैं? यदि हाँ, तो कैसे। यदि नहीं तो क्यों?

उत्तर: आज के युग में कुछ संन्यासियों और संन्यासिनियों ने राष्ट्र और धर्म के लिए राजनीति में प्रवेश किया है, जिनके बारे में आप जानते हैं। लेकिन सामान्यतः संन्यासी राजनीति में प्रवेश नहीं करते। क्योंकि संन्यास जीवन और राजनीति के लक्ष्य, आदर्श, कार्य-पद्धति और कार्यक्षेत्र में मौलिक अन्तर है। राजनीति सामाजिक अधिकारों की लड़ाई है, जबकि संन्यासी अपने समस्त सामाजिक अधिकारों का त्याग करता है। राजनीति की कार्य-प्रणाली साम, दाम, दण्ड और भेद है, जबकि संन्यास की कार्य-प्रणाली त्याग और सेवा है। राजनीति में दूसरों को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है, जबकि संन्यास का उद्देश्य स्वयं का सुधारना है। राजनीति में दूसरों के दोष देखे तथा दिखाये जाते हैं; संन्यासी स्वयं के दोष देखकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों का राजनीति में प्रवेश करने से निषेध किया था।

प्रश्न : संन्यासी लोग सामान्यतः बाल क्यों काट डालते हैं?

उत्तर : देह की तरह बालों के साथ भी हमारी आसक्ति रहती है। हम सभी केशों को सजाना-संवारना पसंद करते हैं। इसे "केशासक्ति" कहा जाता है। संन्यासी अपनी सभी लौकिक

और पारलौकिक वासनाओं को त्यागने का प्रयत्न करता है। अतः वह मुण्डित मस्तक होता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी इसके कारण उसका बहुत-सा समय और शक्तिक्षय होने से बच जाते हैं।

प्रश्न : मेरा नाम सुशांत है, लेकिन यह मेरा वास्तविक परिचय नहीं है। मैं आखिर कौन हूँ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ?

उत्तर : यह तो आपको स्वयं खोजना होगा। हमारे शास्त्र कहते हैं कि स्वरूपतः हम सभी नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त आत्मा हैं। शास्त्र इस दिशा में हमारे सहायक हो सकते हैं, लेकिन जबतक हम अपने वास्तविक स्वरूप की अपरोक्ष अनुभूति नहीं कर लेते, तब तक बौद्धिक ज्ञान होते हुए भी हम अपने को स्वरूपतः नहीं जान सकते। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं साधना करके उसी एक चिरन्तन सत्य का पुनः स्वयं के लिए साक्षात्कार करना पड़ता है।

प्रश्न : आत्मा अमर है। आत्मा मानव शरीर के अन्दर है। अगर आत्मा अमर है तो मानव को भी अमर होना चाहिए। तो फिर मानव मरता क्यों है ?

उत्तर : प्रत्येक मानव के दो भाग होते हैं। एक, वास्तविक मानव और दूसरा प्रातिभाषिक मानव। सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य शुद्ध-बुद्ध, मुक्त अमर आत्मा वास्तविक मानव है। जबकि देह और मन का संघात जो सामान्यतः 'मानव' कहलाता है, वस्तुतः केवल प्राशांसिक, या प्रातिभासिक या Apparent मानव है। वास्तविक मानव का न कभी जन्म होता है और न मृत्यु, किन्तु प्रातिभासिक मानव जन्म ग्रहण करता है और मरता है। प्रातिभासिक मानव तथा वास्तविक मानव या आत्मा को एक दूसरे से पृथक् करने में असमर्थ होने के कारण हमें ऐसा प्रतीत होता है कि देह को मृत्यु के साथ आत्मा की भी मृत्यु हो जाती है। लेकिन वस्तुतः आत्मा सदा अमर बनी रहती है।

प्रश्न : ईश्वर क्या है ?

उत्तर : ईश्वर विषयक् अनेक मान्यताएं प्रचलित हैं। पातंजल योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर एक पुरुष या आत्मा विशेष है जो पंचक्लेश कर्म बन्धन, कर्म के फल तथा संस्कारों से मुक्त तथा गुरुओं का भी परम गुरु है क्योंकि वह काल के द्वारा सीमित नहीं है। भक्ति शास्त्र में ईश्वर को जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करनेवाला नियन्ता बताया गया है। वेदान्त के अनुसार ईश्वर कर्मफलदाता, मायाधीश है। वह सगुण भी है, निर्गुण भी तथा उसके अतिरिक्त और भी है। वह हमारी आत्मा की आत्मा, परमात्मा है। जैन और बौद्ध मतावलम्बी ईश्वर को नहीं मानते, लेकिन जिन और बुद्ध की ईश्वर की ही तरह उपासना करते हैं।

प्रश्न : मानव जीवन में ईश्वर (की मान्यता) का क्या महत्त्व है।

उत्तर : वस्तुतः मानव का उच्चतम आदर्श ही ईश्वर है। भले ही कोई व्यक्ति अपने से भिन्न ईश्वर को अस्वीकार कर दे किन्तु वह स्वयं की सत्ता, चैतन्यता और आनन्द स्वरूपता को अस्वीकार नहीं कर सकता। प्रत्येक मानव स्वयं के भीतर नीहित सत्ता, ज्ञान और आनन्द को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है, और ईश्वर की धारणा और मान्यता इसमें सहायक होती है।

प्रश्न : ईश्वर को पाने का सफल उपाय क्या है ?

उत्तर : ईश्वर को पाने के असंख्य मार्ग हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इन्हीं मार्गों को कर्मयोग, ज्ञानयोग, राजयोग और भक्तियोग इन चार योगों के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। इनमें भक्तियोग सबसे सरल है।

प्रश्न : मन्दिर में जाने का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

उत्तर : हमारा मन संवेदनशील है, उसपर वातावरण का प्रभाव पड़ता है। सांसारिक वातावरण में मन में सांसारिक विचार उठतें हैं। धार्मिक वातावरण में धार्मिक विचार उठते हैं। मन्दिर, देवालय, आश्रम आदि का पवित्र वातावरण मन को पवित्र व शान्त करने में सहायक होता है।

प्रश्न : क्या मन्दिर में जाने से ही शान्ति मिल सकती है ? क्या भगवत् भक्ति का यही एक मात्र उपाय है ?

उत्तर : शान्ति पाने के कई उपाय हैं, मन्दिर में जाना उनमें से एक है। गरीब, दुःखी, रोगी, पीड़ित आर्त व्यक्ति की उसे भगवान् समझकर सेवा करना शान्ति प्राप्ति तथा भगवद् भक्ति का श्रेष्ठतर उपाय है।

प्रश्न : नैतिकता क्या है ? इसके अन्तर्गत कौन सी बातें आती हैं ?

उत्तर : नैतिकता देश, काल, पात्र के अनुसार भिन्न होती है—वह एक सापेक्ष वस्तु है, निरपेक्ष नहीं;जो एक गृहस्थ के लिए नैतिक है, वह एक संन्यासी के लिए अनैतिक हो सकता है। लेकिन यदि आप कोई मापदंड चाहते ही हैं तो निःस्वार्थता को ले सकते हैं।

परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नम्।

परोपकार पुण्य है नैतिकता है, दूसरों को कष्ट देना अनैतिक है, पाप है।

प्रश्न : महत्वाकांक्षा और लक्ष्य में क्या अन्तर है ? जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ?

उत्तर : Ambition या महत्वाकांक्षा एक इच्छा या वासना विशेष है, जिसे हम अपना लक्ष्य बना लेते हैं। यह अन्ततोगत्वा हमारे बन्धन एवं दुःख का कारण होता है। सामान्यतः हमारे जीवन में अभिलाषा और लक्ष्य एक होकर विद्यमान रहते हैं, यही कारण है कि जीवन में दुःख का अन्त नहीं होता। महत्वाकांक्षा में फलाकांक्षा बनी रहती है, और यह फलासक्ति ही बन्धन व दुःख का कारण है। फलाकांक्षा रहित लक्ष्य ही सच्चा लक्ष्य है। आप जो होना चाहते हैं, पाना चाहते हैं, जिसे आपने लक्ष्य बनाया है उससे फलासक्ति त्याग दें तो वही वास्तविक विशुद्ध लक्ष्य बन पायेगा।

जीवन के चरम लक्ष्य को माक्ष, मुक्ति, निर्वाह, रूपोपलब्धि, अध्यात्मिक सुख प्राप्ति आदि अनेक नाम दिये गये हैं। चरम लक्ष्य को मन के समक्ष रखकर उसके सोपान रूप में छोटे-छोटे लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

प्रश्न : मैं एकाग्रता और शान्ति के लिए आवश्यक नियमों को जानता हूँ। मैं कार्य के लिए एक समय-पत्रक भी बनाता हूँ, लेकिन बनाये गये नियमों अथवा समय-पत्रक का पालन नहीं कर पाता और अपने लक्ष्य से च्यूत हो जाता हूँ। कृपया उपाय बतावें।

उत्तर : यह केवल आपकी ही समस्या नहीं है, सभी की समस्या है, साधकों की भी यही समस्या है कि वे अपनी इच्छानुसार नियमों का पालन नहीं कर पाते। लेकिन संघर्ष करते रहने के अतिरिक्त और कोई उपाय भी नहीं है।

एक सरल उपाय यह है : सर्वप्रथम किसी एक सरल-आसान नियम को ले लेवें और उसे पूरा करने का प्रयत्न एक महीने तक करें उदाहरण

के लिए यदि आप प्रातः देर से सो कर उठते हों, तो सूर्योदय के आधे घंटे पहले उठने का नियम बनायें और अलार्म की सहायता से उठें। उठते ही बिस्तर त्याग दें, मुँह धो लेवें। इस तरह एक महीने तक इसे करने के बाद दूसरा कोई नियम इसके साथ जोड़ दें। इस तरह आप एक वर्ष में १२ नियमों को, बारह शुभ आदतों को अपने चरित्र का अंग बना सकेंगे।

हम कई बार बहुत-सी बातें और कठिन बातें एक-साथ करना चाहते हैं, जो अभी हमारी क्षमता के बाहर हैं। इसलिए असफल होते हैं।

यह भी स्मरणीय है, कि असफलता से घबराना नहीं चाहिए और एक-दो बार असफल होने पर प्रयत्न त्याग नहीं देना चाहिएं। संघर्ष करते रहिए--संघर्ष, संघर्ष, संघर्ष— यही उपाय है।

प्रश्न : मनुष्य अपनी समस्या जानता है, हल भी जानता हैं पर अमल क्यों नहीं करता ?

उत्तर : दुर्योधन ने यही बात श्रीकृष्ण से कही थी :

"जानामि धर्मं न चमे प्रवृतिः
जाना म्य धर्मं न चमे निवृतिः।
त्वया ऋषिकेश हृदि स्थितेन
यथानियुक्ता स्मि तथा करोमि॥

अर्थात् "हे ऋषिकेष, मैं धर्म जानता हूँ पर इसका आचरण नहीं कर पाता। अधर्म समझता हूँ, पर उससे निवृत्त नहीं हो पाता। तुम हृदय में बैठकर जिस तरह चलाते हो वैसा करता हूँ।"

हम सभी अपनी प्रवृत्ति, संस्कार, स्वभाव के द्वारा परिचालित होते हैं, यही कारण है कि इच्छा होते हुए भी हम शुभ नहीं कर पाते। श्रीकृष्ण से अर्जुन ने पूछा था : किसके द्वारा प्रेरित होकर व्यक्ति बलपूर्वक इच्छा न होते हुए भी, मानो बल पूर्वक पापाचरण करता है ? इसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा था कि रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही यहाँ अनर्थ की जड़ है। अगर हम सभी अमल करने लग जायँ तो सन्त बन जायें और हमारा समाज, हमारा देश स्वर्ग बन जाये। प्रत्येक व्यक्ति को समाज में क्या हो रहा है यह सोचे बिना स्वयं सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न : मैंने जीवन में कई भूलें की हैं, जिनके लिए मैं प्रायश्चित करना चाहता हूँ, लेकिन प्रायश्चित करने से डरता हूँ। कृपया मार्गदर्शन दीजिए।

उत्तर : (१) भूलें सभी करते हैं। भूलों को स्वीकार करना और पुनः न दुहराना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित है। अगर प्रायश्चित करने के बाद उन्हें पुनः किया जाय तो प्रायश्चित का क्या लाभ ? भूतकाल के शुभ-अशुभ को भूलकर नया जीवन प्रारंभ कीजिए।

(२) अगर प्रायश्चित करना ही चाहते हैं तो डरते क्यों हैं ? डरने से काम नहीं चलेगा। भय सब अनर्थों की जड़ है। इसे दूर कर दें और वीरतापूर्वक कठिनाई का सामना कीजिए।

प्रश्न : मेरी आवश्यकता से अधिक बोलने की बुरी आदत है। यह जानते हुए कि यह मेरे लिए हानिकारक है, मैं इसे नियंत्रित नहीं कर पाता। कृपया मार्ग दर्शन करें।

उत्तर : इसका अर्थ तो यह है कि आपको यह निश्चय नहीं है कि यह हानिकारक है। यदि एक बार किसी खाद्य पदार्थ के बारे में दृढ़ निश्चय हो जाय कि वह जहरीला है, तो वह चाहे कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो, कोई नहीं खाता। अतः सर्वप्रथम विचार और विवेकपूर्वक अपनी बुरी आदत के अनर्थकारी स्वरूप का अच्छी तरह विचार करके उसके प्रति मन में तीव्र वितृष्णा

पैदा कर लीजिए। तब उसे त्यागना आसान हो जायेगा। कुछ लोग दूसरों की गलतियों से ही सीख लेते हैं। दूसरे लोग एक बार गलती करके, उसका दुष्परिणाम भोग कर सीखते हैं परन्तु कुछ लोग बारबार गलती करते हैं, दुःख भोगते हैं और सीखते नहीं। आप कौन-सी श्रेणी के होना चाहते हैं ?

प्रश्न : अच्छाइयों के बदले हम बुराइयों को अधिक आसानी से क्यों ग्रहण कर लेते हैं ?

उत्तर : आपके प्रश्न में अच्छाई और बुराई के स्थान पर यदि श्रेय और प्रेम शब्दों का प्रयोग किया जाय तो प्रश्न का उत्तर देना आसान होगा। कठोपनिषद् में कहा गया है कि दो प्रकार की वस्तुएँ मनुष्य के समक्ष प्रस्तुत होती हैं। प्रथम तो वे जो प्रिय या रमणीय लगती हैं और द्वितीय वे जो श्रेयस्कर या कल्याणकारी होती हैं। प्रिय वस्तु को स्वीकार करने वाला लक्ष्य से भटक जाता है, पर श्रेयस्कर को स्वीकार करने वाले का कल्याण होता है। गीता में भी भगवान् दो प्रकार के सुखों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि राजसिक सुख प्रारंभ में अमृतसम लेकिन परिणाम में विषसम होते हैं, जबकि सात्त्विक सुख प्रारंभ में विषसम किन्तु परिणाम में अमृत-तुल्य होते हैं। तात्पर्य यह है कि अदूरदर्शी मानव बुराई की आपात रमणीयता के कारण उसे आसानी से ग्रहण कर लेता है।

एक और कारण है। हम कई बार बुराई को बुराई नहीं बल्कि अच्छाई समझ बैठते हैं और स्वीकार कर लेते हैं। इसमें सामाजिक परिवेश का भी दोष है। यदि टी० वी० पर मदिरा पान को अच्छा दिखाया जाय तो सबसे बुरी बात होते हुए भी हम उसे अच्छी समझकर स्वीकार कर लेंगे। यही कारण है कि बुराइयों से बचने के लिए सत्संग की आवश्यकता है, जिससे अच्छाई और बुराइ का अन्तर समझ में आ सके।

प्रश्न : ब्रह्मचर्य को इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है ? ब्रह्मचर्य पालने के उपाय बताइये।

उत्तर : प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक-शक्ति का एक भण्डार है जिसे कुण्डलिनी कहा जाता है। इसे ही फ्रायड लिबिडो कहते हैं, लेकिन फ्रायड इस शक्ति का काम से सम्बन्ध ही जानते हैं। आध्यात्मिक जीवन-यापन करने के लिए, मन को सूक्ष्म आत्मतत्व पर एकाग्र करने के लिए महान् मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है। लेकिन यदि इसका कामोपयोग में ही उपयोग किया जाय तो उच्च आध्यात्मिक चिन्तन व अनुभूति के लिए कोई शक्ति नहीं बचेगी। इसे एक दीपक के दृष्टान्त से बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। दीपक में तेल भरा है, जो बाती के माध्यम से जल कर प्रकाश प्रदान करता है। मगर दीये के नीचे छेद कर दिया जाय तो सारा तेल उससे बह जायेगा और बाती के माध्यम से जलकर प्रकाश नहीं कर सकेगा। ठीक यही बात ब्रह्मचर्य के विषय में है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल यौन-संयम ही नहीं, बल्कि सभी इन्द्रियों का संयम है। ब्रह्मचय पालने के लिए मन को सदा शुभ विचारों से भरे रखना परमावश्यक और सबसे महत्वपूर्ण उपाय है। सभी प्रकार की कामों, रोचक बातों, चित्रों, घटनाओं, कथा-कहानियों से दूर रहना चाहिए। एकाग्र मन से भगवन्नाम का जप करने से ब्रह्मचर्य आसानी से सध जाता है। यह श्रीरामकृष्ण द्वारा स्वामी योगानन्दजी को सुझाया गया उपाय है।

प्रश्न : एक बिन्दु पर ध्यान करने का उपाय बताइए।

उत्तर : एक बिन्दु पर ध्यान करने के बदले किसी दिव्य महापुरुष जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण, विवेकानन्द आदि पर ध्यान

करना अधिक आसान और लाभकर है क्योंकि उन महापुरुषों का एक रूप है, अनेक सद्गुण भी हैं, तथा उन्होंने अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार भी किया है। जमीन पर एक चटाई या आसन बिछा कर उस पर पालथी मारकर या सुखासन या पद्मासन में बैठ जाइए। आसन सुखकर और स्थिर होना चाहिए। २०-२५ मिनट तक बिलकुल न हिलें। सामने किसी महापुरुष का चित्र रख लें। ५ मिनट तक आँखें खोलकर चित्र देखते रहें। उसके बाद आँखें बन्द करके उस चित्र की कल्पना करते रहें, तथा अन्य विचारों को मन में न उठने दें। यही ध्यान की सरल पद्धति है।

प्रश्न : ध्यान करने बैठने पर बहुत खराब विचार आते हैं। ऐसे में क्या करना चाहिए ?

उत्तर : मन में संचित जन्मजन्मान्तर के शुभा-शुभ संस्कार ध्यान के समय ऊपर उठ आते हैं। ध्यान करने से मन मथित होता है, अतः प्रारंभ में अशुभ विचारों का उठना अस्वाभाविक नहीं है। फिर भी ध्यान करते रहना चाहिए और उन विचारों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। बुरे विचारों के उठने पर उनके साक्षी बनने का प्रयत्न कीजिए। निष्पक्षभाव से, साक्षी भाव से उन्हें देखते रहने पर वे धीरे-धीरे समाप्त हो जायेंगे।

प्रश्न : कभी कभी ध्यान के बाद उठने पर बहुत बेचैनी होती है। क्या कारण है, तथा उपाय ?

उत्तर : संभवतः आपकी ध्यान की प्रणाली में कोई त्रुटि है। क्या आप बहुत अधिक तनकर तो नहीं बैठते ? बेचैनी प्राणमय कोष के चांचल्य के कारण होती है, जो अन्नमय और मनोमय दोनों कोषों के बीच रहता है, तथा उनके द्वारा प्रभावित होता है, तथा उन्हें प्रभावित करता है। अतः ध्यान करने के पूर्व कुछ देर तथा "नाड़ी शुद्धि" कर लें। अर्थात् एक नासाग्र से निश्चित समय तक धीरे-धीरे श्वास खींचे और दूसरे नासाग्र से उतने ही समय में निकालें फिर दूसरे से खींचे और पहले से उतने ही समय में निकालें। इस तरह ५-१० बार प्रतिदिन कुछ महीनों तक नियमित करें। श्वास को रोकें नहीं। इस तरह करने पर ध्यान के समय या बाद की बेचैनी कम हो जायेगी।

प्रश्न : आपने प्राणायाम में कुम्भक (श्वास रोकना) करने को क्यों मना किया है ?

उत्तर : कुम्भक को बिना किसी विशेषज्ञ के निर्देश में करने से हृदय या फेफड़े का रोग हो सकता है। रेचक-कुम्भक पूरक सह प्राणायाम के लिए भोजन, व्यायाम आदि जीवन पद्धति को भी नियंत्रित करना पड़ता है, जो सामान्यतः हो नहीं पाता। इसीलिए केवल उपर्युक्त नाड़ी शुद्धि का ही निर्देश दिया जाता है।

प्रश्न : पढ़ाई करने के लिए बैठने पर मन में दूसरे विचार आने लगते हैं, मन एकाग्र नहीं होता। कोई उपाय बताइए।

उत्तर : पढ़ते समय मुद्रित शब्दों की पंक्ति पर अपनी ऊंगली रखकर मुँह से बोलते हुए पढ़ें। इससे आंखों से देखना, मुँह से पढ़ना; कानों से सुनना और स्पर्शेन्द्रिय-ऊंगली से छूना होगा। इस तरह चार इन्द्रियों का उपयोग हो सकेगा। जब चार ज्ञानेन्द्रियाँ इस प्रकार नियुक्त होंगी तब मन को नियंत्रित करना आसान हो पावेगा।

यह पता लगाइए कि पढ़ते समय मन कहाँ जाता है ? आप पायेंगे कि टी०वी० आदि पर देखे गये विषयों में मन अधिक जाता है। हमारी पढ़ाई के बदले अन्य विषयों में रूचि अधिक है। पढ़ाई से हमारा कल्याण होगा, यह बात विचार

कर अच्छी तरह मन में बिठा लेने पर संभवतः मन दूसरे विषयों का चिन्तन नहीं करेगा।

प्रश्न : आत्मविश्वास कैसे बढ़ायें ?

उत्तर : स्वामी विवेकानन्द के शक्तिदायी विचारों का पठन, मनन और ध्यान करके।

प्रश्न चरित्र निर्माण कैसे करें ?

उत्तर—आदतों के समूह को चरित्र कहते हैं। व्यक्ति में जितनी अधिक अच्छी आदतें होंगी, उतना ही वह चरित्रवान होगा। आदतों का निर्माण करने के लिए वह कार्य विशेष दीर्घकाल तक, बिना व्यवधान के, प्रतिदिन निष्ठा, लगन एवं रुचि के साथ करना चाहिए। आदतों के निर्माण में समय लगता है। उदाहरण के लिए स्वच्छ रहना, नियमित ध्यान करना, सत्य बोलना, लोगों की सहायता करना आदि कार्यों को निरंतर दीर्घकाल तक करने पर शुभ आदतों का निर्माण होता है। धीरे धीरे, एक एक करके अच्छी आदतें डालते जाइए।

प्रश्न—ऐसा कहा जाता है कि अक्षम लोग ही इस तरह के दार्शनिक विचारों में लगे रहते हैं। आपका क्या मत है ?

उत्तर—खोखले बुद्धिवाद, विचार विमर्श का जिसके साथ कोई कर्म प्रवृत्ति न हो, कोई मूल्य नहीं है, और जिन्हें काम नहीं है, वे ही दिन भर बैठे विचार करते रहते हैं। यह बात सत्य तो है, लेकिन शुभ विचारों से अपने मन को भरना भी आवश्यक है। दार्शनिक विचार विमर्श की आवश्यकता तत्त्व निर्णय के पहले तक आवश्यक है, तत्त्व निर्णय होने के बाद उसके क्रियान्वयन में लग जाना चाहिए। श्रीरामकृष्ण इसे एक सुन्दर दृष्टान्त के द्वारा समझाया करते थे। एक व्यक्ति के पास एक पत्र आया था, लेकिन वह खो गया। तब बड़ी मेहनत करके पत्र खोजा गया। उसमें लिखा था कि एक सेर मिठाई और दो धोतियाँ भेज देना। बस, अब पत्र की कोई आवश्यकता नहीं। अब केवल मिठाई और धोतियाँ खरीदने तथा भेजने का प्रयत्न करना होगा। ठीक इसी प्रकार शास्त्रों का विचार केवल तब तक किया जाता है, जब तक कार्य की दिशा प्राप्त न हो पाये। इन सम्मेलनों, विचार विमर्शों का उद्देश्य दिशा-निर्देश प्राप्त करना है, जिससे चरित्र गठन किया जा सके, मन एकाग्र हो सके, तथा हम स्वयं तथा दूसरों के कल्याण के लिए कार्य कर सकें।

गाँव-गाँव तथा घर-घर में जाकर लोकहित एवं ऐसे कार्यों में आत्मनियोग करो जिनसे कि जगत् का कल्याण हो सके। चाहे अपने को नरक में क्यों न जाना पड़े, परन्तु दूसरों की मुक्ति हो ··· "मृत्यु जब अवश्यम्भावी है।" तब सत्यकार्य के लिए प्राण-त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

– स्वामी विवेकानन्द

देवलोक

—ब्रह्मलीन स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवादक—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट।

मठ में मातृमंदिर की प्रतिष्ठा :

महापुरुष महाराज और सेवकगण को साथ लेकर राजा महाराज २१ नवम्बर की अर्धरात्रि को मद्रास से भुवनेश्वर पहुँचे। बेलुड़मठ में वह समाचार आते ही महापुरुष महाराज की इच्छानुसार उनका विस्तर आदि 'गिरीश मेमोरियल' के गङ्गा की ओर घर में लाया गया। इधर स्वामी सारदानन्द की आन्तरिक चेष्ठा और तत्परता से बेलुड़मठ में श्रीश्रीमाँ के मन्दिर का निर्माणकार्य पूरा होते ही वे इस मन्दिर की प्रतिष्ठा का आयोजन भी साथ-ही-साथ करने लगे। किन्तु महाराज उसी समय भुवनेश्वर छोड़ कर मठ आने के लिए तैयार नहीं हुए। अन्त में शरत महाराज ने राजा महाराज के आशीर्वाद और अनुमतिक्रम से श्रीश्रीमाँ के जन्मतिथि के दिन (१९२१ ई०, २० दिसम्बर) बेलुड़मठ में मातृमन्दिर की विशेष पूजानुष्ठानपूर्वक प्रतिष्ठा की। इस दिन महाराज की इच्छा से बेलुड़ से बेलुड़मठ में मातृमन्दिर में विशेष पूजा-होमादि के अतिरिक्त ठाकुर की विशेष पूजा और भोगराग आदि की व्यवस्था हुई। भक्तों को नित्य आशीर्वाद देने के लिए श्रीश्रीमाँ गङ्गा की ओर मुख करके नवनिर्मित मन्दिर में प्रतिष्ठित हुई। दूसरे दिन से ही एक संन्यासी ने श्रीश्रीमाँ के मन्दिर में पूजा का भार ग्रहण किया। भक्तगण सारा दिन मातृ दर्शन के लिए आने लगे।

महाराज और महापुरुषजी का मठ में प्रत्यागमन :

श्रीश्रीमाँ के मन्दिर प्रतिष्ठा के कुछ दिन बाद ही (१ जनवरी, १९२२) राजा महाराज, महापुरुष महाराज और सेवक वृन्द को लेकर भुवनेश्वर से बेलुड़मठ आये। पूर्व व्यवस्था के अनुसार महापुरुषजी 'गिरीश मेमोरियल' के एक घर में रहे। उनकी कुछ सेवा और देखभाल के लिए पास के घर में ब्रह्मचारी अनङ्ग और पशुपति रहने लगे। महापुरुषजी रोज दोनों समय मन्दिर में ठाकुर प्रणाम और कामकाज देखने के लिए आते एवं बहुत बार महाराज और अभेदानन्द स्वामी के साथ समय बिताते। राजा महाराज भी कम से कम एक बार गिरीश मेमोरियल आकर महापुरुष के साथ बातचीत करते। इतने श्रीरामकृष्ण-पार्षदों को बेलुड़मठ में मिलन - भक्तों के लिए एक विशेष आकर्षण था।

लेखक की अस्वस्थता :

पूजा के बाद मुझको प्रायः ज्वर होने लगा। ज्वर किसी तरह बन्द नहीं होता था। महापुरुष महाराज मुझको बीच-बीच में कलकत्ता के विख्यात डाक्टर, कालाज्वर के विशेषज्ञ, ठाकुर के भक्त विपिनविहारी घोष महाशय के पास भेजते थे। मैं बलराम-मन्दिर से डाक्टर को दिखाने जाता। दिन का भोजन बागबाजार में किरनदत्त के घर में एवं रात्रि में बलराम मन्दिर में खाता था। विपिन बाबू की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ। ज्वर किसी भी प्रकार बन्द नहीं हो रहा था इसी अवस्था में मेरे स्थान परिवर्तन के बारे में सभी विचार करने लगे। उसी समय काशी में पूजनीय हरि महाराज को एक सेवक की विशेष

आवश्यकता थी। बेलुड़मठ में यह खबर आते ही सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द), परेश महाराज आदि अनेक लोग मुझको हरि महाराज की सेवा के लिए भेजने के बारे में विचार करने लगे। काशी की जलवायु अच्छी है, काशी में बड़ा अस्पताल है– वहां स्थान परिवर्तन होने से मेरे स्वास्थ्य की उन्नति होगी यह भी उनके सोचने का एक विशेष कारण था। मठ में यह विचार सुन कर ठाकुर के एक संन्यासी-पार्षद और ब्रह्मज्ञ पुरुष की सेवा करने का अवसर मिलेगा यह सोच कर मन में विशेष आनन्द हुआ। विशेष रूप से हरि महाराज ने प्रायः तीन वर्ष पहले प्रथम दर्शन से ही मेरा हृदय जीत लिया था। मेरे जैसे क्षुद्र एवं अयोग्य के प्रति उनका अपार स्नेह, करुणा और कृपा ने बेलुड़मठ में योगदान करने के लिए मुझे प्रेरित किया था। इसके बाद बेबुड़मठ के मैनेजर महाराज ने जब महापुरुषजी के पास मुझे हरि सहाराज की सेवा के लिए काशी भेजने का प्रस्ताव रखा तब वे मेरा नाम करके बोले 'नहीं, वह मठ का लड़का है मठ में ही रहेगा। इसके अतिरिक्त उसका शरीर विशेष अस्वस्थ एवं दुर्बल है।' तब अवश्य ही इसके पीछे ठाकुर की एक विशेष शुभेच्छा थी, वह समझने की उस समय मेरी बुद्धि नहीं थी। आज इतने वर्ष बाद सब कुछ दैव इच्छा से हुआ, यह स्पष्ट देख रहा हूँ। ठाकुर की कृपा से प्रेरित होकर महापुरुषजी ने इस प्रकार बेलुड़मठ में रखा था, इसीलिएं उस समय मुझको एक साथ अट्ठारह वर्ष तक बेलुड़मठ में रहने का सुयोग मिला था एवं उसी सूत्र से लगभग सोलह वर्ष तक महापुरुषजी का संगलाभ और साथ ही साथ स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज, सारदानन्द महाराज, तुरीयानन्द महाराज, सुबोधानन्द महाराज, अखण्डानन्द महाराज, विज्ञानानन्द महाराज और अभेदानन्द महाराज आदि उस समय स्थूलदेह में वर्तमान ठाकुर के आठ संन्यासी –पार्षद एवं मास्टर महाशय आदि सात-आठ गृही-भक्त, एवं योगीन-मां, गोलाप मां, गौरी मां, आदि आठ नौ स्त्रीभक्तों का आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे हुआ था। सबसे अधिक महापुरुषजी ने मुझे संघ में लेने के समय जो लिखा था,···· मठ में आने पर हमलोग तुमको ऐसी विद्या सिखाएंगे जिससे तुमको 'भगवान लाभ होगा'—इत्यादि। उनकी उस बात को सत्य में परिणत करने के लिए ही मानो मुझको अंतिम बारह वर्ष तक गुरुसेवा, जप और उनकी व्यक्तिगत सेवा का सुयोग देकर मेरे आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा को पूर्वांग और सार्थक कर दिया था।

राजा महाराज का स्थूस शरीर त्याग :

मेरा शरीर किसी भी तरह बन्द नहीं हो रहा था। मैं क्रमशः रक्तहीन और खूब दुर्बल हो गया। मेरी अवस्था देख कर महापुरुषजी बहुत दुःख करने लगे एवं मठ के अन्यान्य साधुओं के साथ परामर्श करके मुझे चिकित्सा एवं वायु परिवर्तन के लिए एक पुराने भक्त के पास बोकारो भेजा। भक्त बोकारो में रेलवे में कार्य करते थे। उनके क्वार्टर से रेलवे के अस्पताल और डिस्पेन्सरी में चिकित्सा की व्यवस्था हुई। इस समय महापुरुषजी चिट्ठी पत्र लिख कर मेरा समाचार लेते एवं आशीर्वाद देतें। वहाँ लगभग अढ़ाई मास रहने के पश्चात स्वास्थ्य में कुछ उन्नति हुई, इसी समय (१० अप्रैल, १९२२) राजा महाराज के आकस्मिक देह त्याग का समाचार मठ से पाकर मैं अविलम्ब बेलुड़मठ लौट आया। महाराज के चले जाने से महापुरुषजी विशेष दुखी थे। प्रणाम करते ही वे अत्यन्त करुण स्वर में बोले 'हमलोगों के महाराज चले गये।' उनके मुख को देखने का साहस नहीं हो रहा था। राजा महाराज के आकस्मिक देहत्याग से महापुरुषजी के प्राणों में भीषण आघात लगा था। वे बहुत

विह्वल हो गये थे। कामकाज से मन उठ गया था, अधिक समय वे चुपचाप ही रहते थे। मठ के विभिन्न साधुओं से समाचार मिला कि २४ मार्च (१९२२) को बलराम मन्दिर में अचानक कठिन विसूचिका रोग से ग्रस्त हो गए। साथ ही साथ अनेक चिकित्सा चलने लगी। महापुरुषजी उस समय ढाका में थे। तार के द्वारा महाराज के कठिन बीमारी का समाचार सुनकर वे अविलम्ब कलकत्ता में बलराम मन्दिर में महाराज की रोग शय्या के निकट उपस्थित हुए। उनको देखते ही महाराज बोले; 'शिवानन्द दादा, आये हैं:' महापुरुषजी रोते रोते बोले 'महाराज, तुम्हारे चले जाने से हमलोग कैसे रहेंगे? तुम इच्छा करने से ही ठीक हो जाओगे।' महापुरुषजी बलराम मन्दिर में ही रहे, बीच बीच में दिन के समय कामकाज देखने के लिए बेलुड़मठ आते, एव स्टीमर से बेलूड़मठ लौट जाते।

महाराज की बीमारी जब खूब बढ़ गयी, किसी चिकित्सा का फल नहीं हो रहा था, तब वे एक रात्रि सारी रात्रि जगकर ठाकुर के पास राजा महाराज के रोगमुक्ति की प्रार्थना कर रहे थे एवं एक के बाद एक तीन बार दर्शन भी पाया था, किन्तु 'महाराज को अच्छा कर दीजिए' यह प्रार्थना कहते ही ठाकुर मुख घुमा कर चले जाते थे। उसीसे वे समझ गये कि ठाकुर इस बार अपने मानस पुत्र को नहीं रखेंगे। उन्होंने सारी रात ध्यान करके विता दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल सेवक के दरवाजा खोलते ही महापुरुषजी रोते रोते सेवक से बोले 'ओरे, हमलोगों के महाराज अब नहीं बचेंगे। इस बार ठाकुर उनको लेकर चले जाएंगे।' कल रात्रि में ठाकुर ने तीन बार दर्शन दिया था, किन्तु 'महाराज को अच्छा कर दीजिए' यह प्रार्थना करने पर कुछ न कर अप्रसन्नभाव से मुँह घुमा कर चले गये। उसीसे मालूम हुआ महाराज को ठाकुर इस बार नहीं रखेंगे, ले जाएँगे। बाद में उन्होंने सेवक को इन सब बातों को कहने से मना कर दिया। राजा महाराज के देहत्याग के पहले सेवक ने यह बात किसी को बतायी नहीं। उनके देहत्याग के बाद बेलुड़मठ आकर साधुओं द्वारा पूछे जाने पर किसी को बताया था। देहत्याग के दो दिन पूर्व राजा महाराज गंभीर भावस्थ होकर अपने सेवकों में सभी को खूब आशीर्वाद करके कहा था 'तुम सभो का कल्याण हो; मैं आशीर्वाद करता हूँ कि तुम सभी भगवान में डूब जाओ'— इत्यादि।

अंत के दो दिन महाराज गंभीर समाधि में मग्न हो गये थे। समाधिस्थ होने के पहले उनको नाना प्रकार की दिव्य अनुभूतियाँ एवं दर्शन हुए थे। वे कोमलस्वर में अपनी अनुभूतियों एवं दिव्य दर्शन के सम्बन्ध में बोले थे, 'ब्रह्मसमुद्र में विश्वास के वटवृक्ष पर तैरते हुए जा रहा हूँ।

आहा, हा। ब्रह्मसमुद्र! ॐ परब्रह्मणे नमः, परमात्मने नमः। मैं व्रज का राखाल हूँ—कृष्ण आये हो। कृष्ण कृष्ण।

अब खेल समाप्त हुआ —इत्यादि बोल कर महाराज शान्त हो गये। दूसरे दिन भी इसी समाधि अवस्था में कट गयी। उसके दूसरे दिन १० अप्रैल, सोमवार रात्रि ९ बजे यह समाधि महा-समाधि में परिणित हो गयी। महाराज ने दिव्य लीला में प्रवेश किया। १० अप्रैल, १९२२, रात्रि आठ बजकर पचपन मिनट पर राजा महाराज ने महासमाधि में नश्वर देह त्याग किया। दूसरे दिन प्रातः ९ बजे मठ की नौका में साधुओं द्वारा चालित होकर राखाल महाराज की पूतदेह बेलुड़ मठ लायी गयी एवं यथारीति गंङ्गाजल में स्नान कराके नया वस्त्र और फूल-चन्दन माल्यादि से भूषित करके श्रीश्रीमाँ के मन्दिर के पास में

गङ्गातीर पर पूर्वनिर्दिष्ट स्थान पर चन्दन और प्रचूर धूप-धूना, गुग्गुल इत्यादि विविध गन्ध द्रव्यों से सज्जित चिता पर उनके पवित्र देह को हजार-हजार साधु-भक्तों ने वेदध्वनि और कीर्तन के बीच होम अग्नि में आहुति दिया गया। बारह दिन के बाद ठाकुर की विशेष पूजा और भोगराग आदि अनुष्ठित हुआ। दो वर्ष के भीतर इसी स्थान पर स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज का समाधि मन्दिर भी निर्मित हुआ।

राजा महाराज के प्रसङ्ग में महापुरुषजी :

महापुरुषजी इसी समय एक दिन बातचीत करते करते बोले, 'स्वामीजी के देह त्याग से हमलोग बेसहारा हो गये थे, चारों ओर अन्धकार मालूम पड़ रहा था। स्वामीजी का वह अभाववोध महाराज ने पूर्ण किया। हमलोग मानो एक बड़े पेड़ की छाया में थे, आंधी-पानी जो कुछ हो, महाराज के ऊपर से जाता था। महाराज हैं— यही सोचकर हमलोग निश्चिन्त थे। किन्तु महाराज का अभाव दूर करने वाला और कोई नहीं है। वे थे ठाकुर के मानसपुत्र—ठाकुर के प्रतिनिधि। उनका निर्देश ठाकुर का निर्देश। महाराज को यन्त्र बनाकर ठाकुर अदृश्य रूप से अपने संघ का परिचालन करते थे।'

संघाध्यक्ष रूप में महापुरुषजी :

कुछ वर्षों के अन्तर में एक के बाद एक बाबूराम महाराज, लाटू महाराज, श्रीश्रीमाँ और महाराज के देह त्याग से संघ के संन्यासी— ब्रह्मचारी और अनगिनत भक्त नर-नारी अपने को नितान्त असहाय समझ रहे थे। सभी मानो दिशाहीन हो गये थे। इतने अन्तरंग संन्यासी— पार्षद और ठाकुर की शक्तिरूपिणी श्रीश्रीमाँ के देहत्याग से श्रीरामकृष्ण संघ में शून्यता की सृष्टि हुई थी उसको पूर्ण करने के दायित्व के सम्बन्ध में महापुरुषजी पूर्णतया अवगत थे। फलस्वरूप वे अधिक गम्भीर और ध्यानपरायण हो गये। उन्होंने धीरे धीरे कोमल हाथों से सभी वेदनाओं को दूर करके सभी के मन प्राणों को भर दिया। सन्तानों के समान संन्यासी, ब्रह्मचारी और अनगिनत भक्तगण के धर्मजीवन गठन का गुरुत्तर दायित्व उन्होंने अपने कंधो पर उठा लिया और अपने अन्तरदेवता श्रीरामकृष्णदेव के ऊपर वे और भी अधिक निर्भरशील हो गये। स्वामी ब्रह्मानन्द का अभाव अपूर्णीय था। स्वामीजी के देहत्याग के पश्चात सुदीर्घ बीस वर्ष तक वे श्रीरामकृष्ण संघ के पिता तुल्य थे। मठ व मिशन के विस्तार और मजबूत बनाने में उनका योगदान जैसा असाधारण था वैसा ही उनका आध्यात्मिक प्रभाव रामकृष्ण संघ के सभी अंगों के ऊपर था। उनकी तिरोधान के पश्चात महापुरुषजी ने विशेष रूप से प्रयत्नपूर्वक सभी की सब प्रकार की वेदना, कोमल हाथों से दूर करके उदारता पूर्वक अमृत-वारि सींच कर सभी को परितृप्त करने लगे। क्या नवीन, क्या प्राचीन, श्रीरामकृष्ण-संघ के प्रति अंग का व्यक्तिगत अभाव-अभियोग एवं सुख-दुःख के साथ घनिष्ठ भाव से परिचित होकर आवश्यकतानुसार वह दूर करने लगे। सर्वोपरि ठाकुर की अपार करुणा, श्रीश्रीमाँ की अहैतुक कृपा और स्नेह स्वामी ब्रह्मानन्द को गम्भीर आध्यात्मिकता और आकर्षणी शक्ति एवं प्रेमानन्द का प्रेम, मानो उनके भीतर प्रविष्ट होकर धीरे धीरे आत्मप्रकाश करने लगा।

राजा महाराज के देहत्याग के बाद ही महापुरुष को प्रधान कर्तव्य दिखाई दिया, संघ के साधु भक्तमंडली, विशेष कर राजा महाराज के आश्रित सन्तानों के शोक सन्तप्त प्राणों में सान्त्वना देना। वे स्नेह-प्रेम, आदर-सत्कार और धर्मोपदेश देकर सभी के प्राणों में शान्ति और आनन्द के स्पर्श से महाराज के अभाव वोध को दूर करने लगे। महाराज के शिष्यों के प्रति मानो उनका पक्षपात

था। वे उनलोगों के साथ अपनी सन्तानों की तरह व्यवहार करते एवं नाना धर्मोपदेश के द्वारा उनके धर्मजीवन को गठित करने में सक्रिय हुए थे।

महाराज के आश्रित एक प्रवीण एवं आचार्य स्थानीय संन्यासी स्वामी यतीश्वरानन्द महाराज ने एक समय बातचीत के दौरान कहा था 'यद्यपि महाराज मेरे दीक्षा गुरु थे, किन्तु उनका साथ तो अधिक दिन मिला नहीं। उस हिसाब से महापुरुषजी थे मेरे शिक्षागुरु। महाराज के देहत्याग के बाद महापुरुषजी के बीच ही हमने राजा महाराज को पाया था हमलोगों के धर्मजीवन गठन का समस्त दायित्व उन्होंने लिया था। उनके प्रेम और स्नेह की कोई तुलना नहीं थी। जिससे हमलोगों का कल्याण हो वही वे करते थे। साधन भजन के सम्बन्ध में बहुत से उपदेश देते थे। उनकी तीक्ष्ण अर्न्तदृष्टि थी। मेरे आध्यात्मिक जीवन के विकास हेतु उन्होंने कितनी प्रकार की सहायता दी थी। उनके पास मैं चिरऋणी हूँ। महाराज का अभाव उन्होंने पूर्ण किया था।'

स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज के देहत्याग के बाद मई, १९२२ ई० को स्वामी शिवानन्द महाराज श्रीरामकृष्ण मठ और मिशन के अध्यक्ष मनोनीत हुए। किन्तु उन्होंने साथ ही साथ कहा था, 'हम लोगों के प्रेसीडेन्ट तो महाराज ही हैं। स्वामीजी उनको प्रेसीडेन्ट बना गये हैं। मैं तो उनका सेवक हूँ। भरत जिस प्रकार रामचन्द्र की पादुका सिंहासन पर रख कर राज्यशासन करते थे, मैं भी उसी प्रकार महाराज की पादुका सिर पर रख कर उनका कार्य करूँगा। वे जैसी बुद्धि देंगे वैसा कार्य करूँगा।' यही मनोभाव लेकर महापुरुषजी ने सुदीर्घ बारह वर्षों तक श्रीरामकृष्ण संघ की सेवा की थी।

महापुरुषजी जब संघाध्यक्ष हुए तब उनकी उम्र अढ़सठ वर्ष की थी। इस वृद्ध उम्र में भी महापुरुषजी सभी विषयों में स्वावलम्बी थे। क्या हिमालय, क्या बेलुड़मठ, सभी जगह वे अनाडम्बर और कठोर जीवन व्यतीत करते। उनके पोशाक-सामान आदि किसी की अधिकता नहीं थी - खूब सीधे सादे थे। वे स्वयं खूब अल्प से संतुष्ट रहते थे। पहले से ही वे मिताहारी थे और सबके साथ पंगत में बैठ कर प्रसाद ग्रहण करते थे। इस वृद्धावस्था में भी वे शौचादि के लिए सर्वसाधारण के लिए जो पायखाना था उसी को व्यवहार करते थे।

सिस्टर निवेदिता

—सुश्री जसवीर कौर आहूजा
पटियाला, पंजाब

(१७)

अंत

स्वास्थ्य में गिरावट

निवेदिता प्राय बीमार हो जाया करती थी। भारत की जलवायु उनका भ्रमण कठोर संयमी स्वभाव और इस पर अनथक परिश्रम इन सब कारणों से उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। १९०५ में वे गम्भीर रूप से बीमार हो गई। १९०६ में पूर्वी बंगाल में तूफान और अकाल पड़ गया। लोगों ने भयंकर कष्ट उठाये और उन दिनों ऐसे लोग बहुत कम थे जो उनके लिये सहायता का प्रबन्ध करने के बारे में सोच सकते थे। निवेदिता सबसे अधिक चुस्त और फुर्तीली सहायिका थीं।

ज्योंही उन्होंने लोगों पर आई मुसीबत के बारे में सुना, वे कलकत्ता छोड़ कर बारीसल चली गईं। वहाँ वे एक गाँव से दूसरे गाँव में पैदल जातीं जहाँ उन्हें कई मील तक घुटने घुटने पानी में से गुजरना पड़ता। वह गरीबों और संकटग्रस्त

लोगों से मिलीं। कोई मुश्किल या कठिनाई उन्हें सेवा के इस शुभ कार्य से रोक नहीं सकती थी। लोक सेवा के इन दिनो में ही उन्हें लोगों की भयंकर गरीबी और दरिद्रता का पता चला। उन्होंने यह भो देखा कि इतनी मुसीबत में वे लोग कितने शांत धीर और संतुष्ट है।

सदा ही उनके मन में दीन-दुखियों के लिए प्यार को भावना थी। अब उनके लिये उनके दिल में प्यार और श्रद्धा और भी बढ़ गई। परन्तु काम का भार अब उनके लिये बहुत अधिक था। एक बड़े सख्त किस्म के मलेरिया बुखार ने उन पर हमला किया उन्होने अत्यन्त संयम और साहस के साथ बुखार का सामना किया और धीरे-धीरे वे ठीक हो गई। तब से लेकर बाद में सारा जीवन उन्होंने किसी न किसी गर्म देशों की बीमारी का सामना किया।

चेतावनी

बहुत सारे लोग जिनको निवेदिता प्यार करती थो एक के बाद एक, एक-एक करके मर चुके थे। वह बहुत दुखी और उदास रहने लगी थी उनका विचार था कि जब तक भी वे जोती रहेगी वे भारत के लिये सहायक रहेगी और इस प्रकार अपने गुरु की इच्छा पूरी करतो रहेगी, जिन्होंने कहा था—"अगले ५० वष तक यही हमारा मूल मंत्र होगा, यही हमारी महान भारत मां! इस सारे समय के लिये इन सारे पालतू देवताओं को हमारे दिमाग से बाहर निकल जाने दो। यहो वह अकेला परमात्मा है जो जाग रहा है, यहो हमारी जाति है हर जगह जिसके हाथ, हर जगह पर जिनके चरण हर जगह पर जिसके कान है। वह सर्वव्यापक है, और हर एक चीज में समाया हुआ है। जब हम इसकी पूजा कर लेंगे तो हमारे अन्दर शेष देवताओं की पूजा करने की शक्ति आ जायेगी।"

कोरो ग्रीस का एक (मशहूर) सुप्रसिद्ध हस्त रेखा विशेषज्ञ था। एक बार निवेदिता को मिला था और उसने कहा था कि वह अपने ४२वें और ४४वें वर्ष के बीच मरेगी। उन्हें यह याद था। उन्होंने १९०४ में अपने एक मित्र को लिखा, मैं अब ३६ वर्ष की हो चुकी हूँ। लगता है मैं १९१२ में मर जाऊंगो।

सितम्ब १९१० में उन्होंने लिखा "मेरे बहुमूल्य १२ साल का समय पूरा होने वाला है और मुझे लगता है कि जब नवम्बर में मिन्टो परिवार चला जायेगा तो मैं अपने जीवन के एक अत्यन्त अंधकार पूर्ण पक्ष में प्रवेश करूंगी। मेरे पास अभी दो साल और है, इससे अधिक नहीं।"

नवम्बर १९१० में वे फिर अमरीका गई। उनकी सहेली श्रीमती बुल बहुत बीमार थी। जनवरी १९११ में उनका देहान्त हो गया। निवेदिता इंगलैंड चली गई और फिर मार्च में इंग्लैंड से पेरिस चली गई अप्रैल में वे भारत वापिस आ गई।

गर्मियों की छुट्टियों में वह बोस परिवार के साथ मायावती गई। वहां उन्होंने दुर्गापूजा की छुट्टियों में दार्जलिंग जाने का कार्यक्रम बनाया। यात्रा का समय ज्यों ज्यों निकट आता गया निवेदिता को बहुत अधिक इल्हाम होने लगा कि वह कलकत्ते से सदा के लिए बिछुड़ रही है वह उन सारे लोगों से मिलने गई जिन्हे वे जानती थी इस तरह लगता था कि जैसे वह उनसे विदाई ले रही हो। उनकी परम प्यारी भां उस समय अपने पीछे वाले घर में थी परन्तु वे मां के बाग-बाजार वाले घर में गई और संघ के बुजुर्ग सन्यासी स्वामी शारदानन्दजी, गोलप मां और जोगिन मां से विदाई ली। एक बुजुर्ग महिला जो मां के घर में ही रहतो थी निवेदिता के मन में उनके लिये विशेष प्यार और सत्कार था। उसका नाम जोगिन मां था। उस साध्वी महिला को निवेदिता झुककर प्रणाम किया और उनके कान में बोली—

"जोगिन मां, मुझे लगता है कि मैं वापिस नहीं आऊंगी।"

"इस नरह तू क्यों कहती है, निवेदिवा ?" जोगिन मां ने चिन्तातुर होकर पूछा।

"मुझे पता नहीं फिर भी न जाने क्यों मुझे इस तरह लगता है कि यही अन्त है।"

जोगिन मां ने उन्हें ऐसे विचार मन से निकाल देने को कहा और विषय बदल दिया परन्तु अपने मन से वह भी अपनी चिंता को बाहर नहीं निकाल सकी।

अन्तिम यात्रा :

निवेदिता बोस परिवार के साथ दार्जलिंग गई। वहां वे राय विला में ठहरी। पहले कुछ दिन शान्ति और आरामपूर्वक बीते तो उन्होने दूर एक ऊँची-चोटी संदक-फू पर चढ़ने का कार्यक्रम बनाया परन्तु जिस दिन उन्होंने जाना था निवेदिता को खून के दस्त लग गये और बना हुआ कार्यक्रम व्यर्थ हो गया क्योंकि उन्हें पता लग गया था कि उनका अन्तिम समय आ गया है उनके मेजबान बहुत चिन्तातुर थे परन्तु वह उनके साथ लगातार साहस पूर्वक ढंग से बात करती रही और खुशी खुशी मुस्कुराती रही।

अक्तूबर की ७ तारीख को उन्होंने अपनो अन्तिम वसीयत लिखी। अपनी सारी चीजों और लिखितों को उन्होंने बेलुड़मठ के संस्थापकों के अधिकार में छोड़ दिया। उनका उपयोग उनके स्कूल के लिये देश की स्त्रियों के लिये शिक्षा प्रदान करने के लिये किया जाना था। उन्हें बौद्धमत की एक प्रार्थना जिसमें विश्व प्यार और शान्ति की भावना थी बहुत पसन्द थी वह उन्होंने पढ़वा कर सुनी। मौत नजदीक आ रही थी और वह गहरे ध्यान में प्रवेश कर रही थो वह उपनिषदों में से अपनी मन पसन्त रुद्र-प्रार्थना का जाप कर रही थी :—

"हमें असत्य से सत्य की ओर ले चलो ! हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।"

उन दिनों में दार्जलिंग में हमेशा बादल छाये रहते थे सूर्य देवता के दर्शन मुश्किल से होते थे थे। परन्तु १३ अक्तूबर के सवेरे सात बजे सूर्य देवता अचानक प्रकट हो गये। निवेदिता उठी— यह पुरानी नाव अब डूब रही है परन्तु मैं फिर भी सूर्य देवता के दर्शन करूँगी।" और फिर उन्होने अन्तिम सांस ली।

दार्जलिंग के छोटे से शहर में उनके मरने की खबर जल्दी ही फैल गई। अनेकों प्रतिष्ठित व्यक्ति जो उस समय वहां थे उस महान हृदय वाली नारी को अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाने तुरन्त रायविला पहुँच गये। वह सब शव यात्रा में शामिल हुए। बाजार से होकर जब जलूस अन्तिम यात्रा के लिये श्मशान भूमि को जा रहा था तब लोग सिर झुका कर खड़े थे। श्मशान भूमि में रामाकृष्ण मिशन के गोनेन महाराज ने हिन्दू रस्मों के अनुसार उनका दाह संस्कार किया भारत मां की पुत्री अपनी मां की गोद में सिर रखकर अमर-अनन्त काल के लिये सो गई।

इस तरह रामकृष्ण विवेकानन्द की निवेदिता की कहानी का अन्त होता है जिन्होने अपने जीवन में अपनी प्रार्थना को क्रियात्मक रूप दिया, "हे प्रभु, मुझे शक्ति दो, कि मैं अपने गुरु के नाम पर सच्चे दृढ़ता भरे शब्द कह सकूं। वह शब्द जिनमें मेरे गुरु की शक्ति हो, जिनमें कोई तरोड़ मरोड़ न हो ताकि मैं अन्तिम श्वास लेने से पहले महसूस कर सकूं कि मैंने अपने गुरु को निराश नहीं किया।" वह अपने जीवन और मृत्यु को एक सिक्के के दो पहलू समझती थी। वह अपने गुरु का काम अन्तिम श्वास तक करना चाहती थी और उन्होंने कह दिया कि मुझे मुक्ति की कोई परवाह नहीं !"

"राज न चाहो मुक्ति न चाहूँ,
मन प्रीति चरन कमला रे…"
(गुरु ग्रन्थ साहिब —५३४

चोरी कर ले और मुक्त हो जा

कौन कहता है कि चोरी करना पाप है? अक्सर यह पाप हो सकता है, किन्तु हमेशा नहीं। चुराना अच्छा काम भी हो सकता है, बल्कि कभी-कभी आवश्यक भी हो जाता है—बशर्ते हमें यह मालूम हो कि किस वस्तु को चुरा ही लेना चाहिए और वह भी किससे?

एक गुरु अपने शिष्य के साथ तीर्थ यात्रा करने जा रहे थे। वे गाँवों से गुजर रहे थे। गुरु आगे-आगे चल रहे थे और शिष्य उनके पीछे-पीछे। इधर कुछ दिनों से शिष्य का मन बहुत अशान्त और उद्विग्न रह रहा था तथा उसे शान्त करने के उसके सारे प्रयास व्यर्थ साबित हो रहे थे। अन्त में उसने गुरु के चरणों में अपने को समर्पित कर उनकी सहायता लेने का निश्चय किया। "आखिर, सच्चिदानन्द भगवान ही तो गुरु के रूप में अवतरित होते हैं; अतः गुरु के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है"—शिष्य ने सोचा।

शिष्य ने गुरु को रोका और उनके चरणों पर भूमिष्ठ हो साष्टांग गिर गया। फिर गुरु के आगे घुटनों के बल झुक कर जोड़ कर उसने प्रार्थना की - 'हे मेरे गुरुदेव, जब आप श्रीराम के रूप में अवतरित हुए, आपने रावण का संहार किया। अब आप उस रावण का, जो मेरे मन में प्रवेश कर गया है, संहार करने की कृपा क्यों नहीं करते हैं?"

गुरु ने अपने शिष्य को निहारा और उसकी गहरी भक्ति एवं विश्वास से द्रवित हो उठे। उन्होंने उसके माथे पर धीरे धीरे हाथ फेरा और कहा—"अच्छा बच्चा, श्रीराम ने रावण का कब वध किया?" इस साधारण प्रश्न ने शिष्य को हैरान कर दिया, किन्तु उसने फिर भी कहा—"जब रावण ने सीता को चुरा लिया।"

"बिल्कुल ठीक कहा तुमने! तो तुम भी वैसा ही कर सकते हो। पहले मेरी सीता को चुरा लो और तब मैं तुम्हारे रावण का संहार कर दूँगा।" गुरु ने शिष्य से कहा।

यह कथन और भी परेशानी में डालने वाला था। शिष्य अचम्भे में पड़ गया, कि आखिर गुरुदेव की सीता कौन है और वह कहाँ रहती है? गुरु जानते थे कि दरअसल शिष्य इसे समझ नहीं सकेगा। इसलिए उन्होंने समझाते हुए कहा—"वत्स, सीता राम की शक्ति थी। जब रावण उसे चुरा ले गया, तब यह वही शक्ति थी जिसने रावण को मारा। राम केवल यन्त्र थे -- निमित्त रूप थे। इसी तरह तुम भी क्यों नहीं मेरे मन की शक्ति का हरण कर लेते हो और उस रावण का वध कर देते हो जो तुम्हारे चित्त को अशान्त कर रहा है?"

"गुरुदेव, मैं आपकी शक्ति का अपहरण कैसे कर सकता हूँ?"

"क्या तुमने कभी एक दीपक से दूसरे दीपक को प्रज्वलित होते नहीं देखा है? उसी भाँति एक व्यक्ति के मन को दूसरे के मन की शक्ति से आवेशित किया जा सकता है। इसके लिए तुम्हे अपने को तैयार करना होगा और उपयुक्त रूप से ग्रहणशील बनाना होगा। पूर्ण पवित्रता, सत्य निष्ठा एवं ईश्वर के प्रति समर्पण का आदर्श जीवन जीयो और तुम अपने मन में शक्ति को प्रवेश कर रावण का वध करते हुए देखोगे।"

थोड़ा ठहर कर, गुरु ने मुस्कुराया और पुछा, 'तो क्या तुम मेरी शक्ति को चुरा सकोगे?"

अपने प्रबुद्ध और करुणामय गुरु के श्रीचरणों पर एक बार पुनः प्रणिपात करते हुए शिष्य ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'हाँ-हाँ, निश्चय ही जितनी जल्दी हो सकेगा, मैं रापकी शक्ति को चुरा लूँगा।"

(वेदान्त केसरी (मद्रास) के फरवरी, १९९४ अंक से साभार अनूदित।

अनुवादक—डॉ० केदारनाथ लाभ)

संसार में जब आया है तो एक स्मृति छोड़कर जा, वरना पेड़-पत्थर भी तो पैदा तथा नष्ट होते रहते हैं।

स्वामी विवेकानन्द

जीवन की समस्त लयों के अनुकूल

पी य र ले स

दि पीयरलेस जेनरल फाइनैन्स एण्ड इन्वेस्टमेन्ट कं० लिमिटेड
पीयरलेस भवन
३, एसप्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता—७०० ०६९

भारत की बृहत्तम नान बैंकिंग बचत कम्पनी

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी.-१४-८३

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी की बहुप्रतीक्षित बृहत् जीवनी

युगनायक विवेकानन्द

तीन खण्डों में

स्वामी गम्भीरानन्दजी द्वारा लिखित
स्वामी विवेकानन्दजी की यह मूल बंगला जीवनी
उनका अत्यन्त प्रामाणिक और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न
जीवन-चरित मानी जाती है। सर्वदूर समादृत यह ग्रन्थ अब
हिन्दी-भाषी पाठकों को उपलब्ध हुआ है। हिन्दी में
स्वामी विवेकानन्दजी के बृहत्, प्रमाणभूत जीवनी का
अभाव था, जिसकी पूर्ति इस प्रकाशन से अब
हो गई है।

हर खण्ड करीब डमाई ४०० पृष्ठों का है।

हर खण्ड का मूल्य रु. ५०/- *तीन खण्डों का एकत्रित मूल्य रु. १२०/-*

प्रकाशक :

रामकृष्ण मठ

(प्रकाशन विभाग), धन्तोली, नागपुर-४४००१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सईदपुर, पटना-४ में मुद्रित।